सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध

With Best Compliments for Dr. Y. D. Sharma
From-Bharatiya Vidya Prakashan
Subhash Chandra Jain
Partner

डा० वेदकुमारी
डा० रामप्रताप

सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध

(प्रथम भाग)

डा० वेदकुमारी, एम० ए० (संस्कृत, प्राचीन भारतीय
इतिहास एवं संस्कृति, पीएच० डी० (संस्कृत)
अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, ज० वि० ज०

एवं

डा० रामप्रताप, वेदालङ्कार, एम० ए०, साहित्याचार्य, पीएच० डी०
संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय,
जम्मू तवी

भारतीय विद्या प्रकाशन
वाराणसी—१ (भारत)

प्रकाशक—

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो० बा० १०८, कचौड़ी गली

वाराणसी—१ (भारत)

C लेखक

प्रथम संस्करण जुलाई १६७३

मूल्य ७ रुपये ५० पैसे

सजिल्द १० रुपये

मुद्रक—

गणेशप्रसाद

न्यूकिरण प्रेस

जगतगंज, वाराणसी

Sanskritika Aur Sahityika Nibandha

(A collection of some research articles on Culture, Poetics and Linguistics)

[Vol. I]

With Best Compliments for Dr. Y. D. Sharma
From-Bharatiya Vidya Prakashan,
Subhash Chandra Jain
Partner.

Ved Kumari, M. A., Ph. D.
Head, P.G. Department of Sanskrit
Jammu University, Jammu Tawi

●

Ram Pratap, Vedalankar, M.A., Ph. D.,
Sahityacharya, P. G. Department of Sanskrit
Jammu University, Jammu Tawi

Bharatiya Vidya Prakashan
Varanasi – 1 (India)

Publishers :
Bharatiya Vidya Prakashan
P. B. 108 Kachauri Gali
VARANASI—1 (India)

C Author
First Edition, July 1973
Price Rs. 7·50
Lib. Ed. Rs. 10·00

Printer :
Ganesh Prasad
New Kiran Press,
Jagatganj, Varanasi

प्राक्कथन

किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता को जानने के लिए उस देश के साहित्य का ज्ञान होना आवश्यक है। साहित्य का मर्म समझने में आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विशेष सहायता मिलती है और यह दृष्टि विभिन्न शास्त्रों के पठन-पाठन, मनन-चिन्तन तथा चर्चा-परिचर्चा से बना करती है।

यह निबन्धसंग्रह भारतीय साहित्य और संस्कृति के अगाध सागर से कुछ मुक्ताकण लेकर उपस्थित किया जा रहा है। इन मोतियों की नैसर्गिक कान्ति को अक्षुण्ण रखते हुए हमने एक सामान्य कलाकार की हैसियत से इन्हें यहाँ तराश कर और सजा कर रख भर दिया है। इस प्रयास में हम कहाँ तक सफल हो पाये हैं इसका निर्णय सहृदय आलोचकों और पाठकों के द्वारा ही किया जाना है।

आलोचना भाग के अन्तर्गत निबन्धों के लेखक मेरे पति डा० रामप्रताप अपने गुरु श्री काकाराम शास्त्री तथा श्री द्विजेन्द्रनाथ मिश्र के अत्यन्त आभारी हैं जिनकी कृपा से इन्हें भारतीय काव्यशास्त्र के गहन क्षेत्र में प्रवेश मिला है। गुरुपूर्णिमा के इस पवित्र अवसर पर मैं अपने सभी दिवंगत और वर्तमान गुरुजनों का श्रद्धा एवं भक्तिपूर्वक स्मरण करती हूँ। इस पुस्तक को पूज्य श्री बलदेव उपाध्याय जी ने भूमिका लिखकर आशीर्वाद प्रदान किया है जिसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। इस ग्रन्थ के प्रकाशक और मुद्रक भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं।

गुरुपूर्णिमा
१५ जुलाई १९७३

—वेदकुमारी

•

१७३ रघुनाथ पुरा
जम्मू तवी

भूमिका

डा० वेदकुमारी (अध्यक्षा, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय) तथा डा० रामप्रताप, वेदालङ्कार (प्राध्यापक, ज० वि० विद्या०) की सम्मिलित रचना 'सांस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध' नामक ग्रन्थ देखने का मुझे अवसर मिला। यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह भारतीय संस्कृति, आलोचना तथा भाषाविषयक उपयोगी निबन्धों का संग्रह है जो छात्रों और अध्यापकों के साथ ही सामान्य जिज्ञासुजनों के लिए भी नितान्त उपयोगी तथा लाभप्रद है। इस ग्रन्थ के निबन्धों में अनेक नवीन विषयों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। डोगरी भाषा विषयक लेख एक उपेक्षित विषय की आवश्यक, अथ च प्रामाणिक सामग्री से संवलित होने से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें डोगरी के भाषाशास्त्रीय अध्ययन के साथ ही साथ उसकी साहित्यिक विशेषता भी आलोचित है। ऋग्वेद में भाषातत्त्व तथा काव्यतत्त्व, कालिदास के साहित्य में शृंगार और सज्जा तथा काव्य-बिम्ब के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कविता आदि निबन्ध अनुशीलन-कर्त्ताओं के ज्ञान की गम्भीरता तथा विविधता के प्रकट करने में नितान्त समर्थ हैं। इसी प्रकार आचार्य मम्मट तथा ध्वनि-सम्प्रदाय का परिचय, उत्तम नाटकों में विभिन्न तत्त्वों की सामूहिक पूर्णता आलोचना के विषय में लेखकों के प्रामाणिक मतों का उपन्यास करते हैं।

इन निबन्धों में अनेक निबन्ध एकदम नवीन विषयों का प्रतिपादन हमारे सामने करते हैं। मेरी दृष्टि में डोगरी-विषयक लेख इसी कोटि में आते हैं। डा० वेदकुमारी की मातृभाषा डोगरी है और

उन्होंने भाषाविज्ञान का विशिष्ट अध्ययन भी किया है। फलत: डोगरी के भाषा विषयक वैशिष्ट्य का जो विवरण यहाँ दिया गया है, वह बहुत ही लाभदायक तथा प्रामाणिक सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'नीलमतपुराण' के विषय मे भी सामान्य पाठकों की जानकारी बहुत ही कम है। वे इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखते हैं। 'नीलमतपुराण में धर्मों का समन्वय' उनकी इस जिज्ञासा के एक अंश को पूर्ण करने में सर्वथा समर्थ होगा। निबन्धों का स्तर पर्याप्तरूपेण ऊँचा है। सुभगशैली इन्हें रोचक और रमणीय बना रही है।

ऐसे प्रामाणिक तथा उपयोगी ग्रन्थ लिखने के लिये मैं दोनों विद्वान् लेखकों को आशीर्वाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे अन्य आवश्यक विषयों पर निबन्ध लिखकर संस्कृत तथा हिन्दी के जिज्ञासुजनों का इसी प्रकार मंगल-साधन करेंगे।

तथास्तु

बलदेव उपाध्याय
प्रातावकाश सञ्चालक,
अनुसन्धान संस्थान,
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी

विषय-सूची

प्राक्कथन

भूमिका

संस्कृति

१. प्राचीन संस्कृत साहित्य में डुग्गरभूमि ... १-१०

२ डोगरी लोकगीतों में रामकथा ... ११-२२

३. डोगरी लोकोक्तियों में नारी ... २३-३०

४. नीलमत पुराण में धर्मों का समन्वय ... ३१-३८

५. कालिदास के साहित्य में सिंगार और सज्जा ... ३९-४५

६. रुय्यक की सहृदय लीला में नारी सौन्दर्य ... ४६-५३

आलोचना

७. ऋग्वेद में काव्य के विभिन्न तत्त्व ... ५४-५९

८. पुराणों के विभिन्न संस्करण और उनके रचयिता .. ६०-६८

९. उत्तम नाटक में विभिन्न तत्त्वों की सामूहिक पूर्णता ... ६९-७८

१०. भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में ध्वनितत्त्व ... ७९-८३

११. काव्यबिम्ब के परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कविता ... ८४-९३

१२. ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय ... ९४-१०३

१३. आचार्य मम्मट का वैशिष्ट्य ...१०४-१२६

भाषा

१४. ऋग्वेद में भाषा तत्त्व ...१२७-१३०

१५. संस्कृत का महत्त्व ...१३१-१३६

१६. डोगरी और संस्कृत का सम्बन्ध ...१३७-१४७

१७. डोगरी शब्दसूर : प्रयोगशाला में कुछ प्रयोग ...१४८-१५६

१८. डोगरी भाषा का उच्चारण और लिखित रूप ...१५७-१६६

●

प्राचीन संस्कृत साहित्य में डुग्गर-भूमि

अभी तक के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि डुग्गर या इससे मिलते-जुलते संस्कृत शब्द का उल्लेख प्राचीन भारतीय ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण इत्यादि मे उपलब्ध नहीं होता है। महाभारत के भीष्मपर्व के ६वें अध्याय के ५२ श्लोक में दुर्गाल प्रदेश का नाम मिलता है, पर यह सूची भौगोलिक क्रम से नहीं दी गई है। अतः इसकी पहचान के लिए जब तक कोई और सामग्री उपलब्ध न हो, तब तक इसका सम्बन्ध डुग्गर से ही है इस विषय में कुछ भी कहना कठिन है। इस कारण इन प्राचीन ग्रन्थों से डुग्गर प्रदेश सम्बन्धी तथ्य प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि हम वर्तमान समय में डुग्गर या डोगरी भाषा के प्रदेश को रूप-रेखा को समझ लें तथा तदनुसार उस प्रदेश का वर्णन प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में खोजने की ओर पग बढ़ाएं। प्रस्तुत लेख में डुग्गर प्रदेश से तात्पर्य किसी राजनैतिक प्रदेश से नहीं बल्कि केवल डोगरी भाषा तथा उसकी उपभाषाओं के क्षेत्र से है।

डाक्टर ग्रियर्सन के मतानुसार तो डोगरी का प्रदेश वर्तमान जम्मू कश्मीर रियासत का दक्षिणी भाग है, जिसमें जम्मू तथा उसके आस-पास का प्रदेश ही आता है[1]। वह जम्मू के उत्तर की रामबनी, पोगली इत्यादि पहाड़ी बोलियों को डोगरी से सम्बन्धित मानते हुए भी डोगरी के अन्तर्गत नहीं समझते। जम्मू के पूर्वोत्तर में भद्रवाहवर्ग की भद्रवाही, भलेसी, जम्मू के पूर्व में चम्बा प्रदेश की चमेयाली गादी इत्यादि को वह पहाड़ी बोलियों में गिनते हैं। केवल जम्मू की सीमा पर चम्बे के पश्चिम में बोली जाने वाली भटयाली तथा जम्मू की सीमा पर सियालकोट तथा गुरुदासपुर जिलों के उत्तरी भागों में बोली जाने वाली कण्डयाली को वह डोगरी की उपभाषायें मानते हैं। इस प्रकार ग्रियर्सन का अनुसरण करते हुए डोगरी भाषा का प्रदेश जम्मू प्रान्त का दक्षिणी भाग, पाकिस्तान में गये पंजाब के सियालकोट जिले की उत्तरी सीमा, भारतान्तर्गत पूर्वी पंजाब के गुरुदासपुर जिले की उत्तरी सीमा, हिमाचलप्रदेशवर्ती चम्बे की पश्चिमी सोमा तथा कांगड़ा प्रदेश माना जा सकता है। अन्य कई विद्वानों के अनुसार डोगरी का प्रदेश इससे कहीं अधिक विस्तृत है। जॉन बीम्ज ने अपनी पुस्तक Outlines of Indian Philology में नेपाल से लेकर पुंछ तक

बोली जाने वाली पहाड़ी बोलियों में डोगरी को पश्चिमी पहाड़ी वर्ग की प्रतिनिधि बोली माना है[२]। इस पश्चिमी पहाड़ी के क्षेत्र में पीरपंजाल के दक्षिण में लगभग सारा जम्मू प्रान्त, कुल्लू, कांगड़ा, पंजाब के गुरुदासपुर, होशियारपुर जिलों के पहाड़ी इलाके, हिमाचलप्रदेश की भूतपूर्व देशी रियासतें, मण्डी, सुकेत, बिलासपुर और शिमला तथा आधुनिक पाकिस्तान में विद्यमान पश्चिमी पंजाब का बहुत-सा उत्तरी भाग आ जाता है। प्रस्तुत लेख में इस सारे प्रदेश को डोगरी प्रधान क्षेत्र मान कर प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में इस क्षेत्र सम्बन्धी उपलब्ध सामग्री को एकत्रित किया गया है।

समय परिवर्तन के साथ-साथ प्रदेशों की भौगोलिक संज्ञायें तथा परिभाषायें भी बदलती रहती हैं। कभी कभी एक समय के साहित्य में उसी प्रदेश का कोई विशेष नाम प्रचलित होता है, दूसरे समय के साहित्य में उसी प्रदेश का बिलकुल भिन्न नाम मिलने लगता है। कई बार किसी विशेष भौगोलिक नाम से अभिहित छोटा-सा प्रदेश कुछ समय के अनन्तर सांस्कृतिक या राजनैतिक कारणों से बहुत विस्तृत हो जाता है तो कभी किसी विस्तृत प्रदेश की सीमायें सिकुड़ कर छोटी-सी रह जाती हैं, जबकि नाम वही रहता है। भाषा के विकास के साथ-साथ भाषा-विज्ञान के नियमों द्वारा भी भौगोलिक संज्ञाओं का रूप बदल दिया जाता है। इन सब कारणों से किसी भी क्षेत्र के आधुनिक नामों की पहचान प्राचीन भौगोलिक संज्ञाओं के साथ करने में पर्याप्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। डुग्गर-भूमि का वर्णन प्राचीन साहित्य में से खोजने का कार्य भी इसी प्रकार की उलझनों से भरा है।

पुराणों के भुवनकोशों में तथा राजशेखर की काव्यमीमांसा में भारतवर्ष को मोटे तौर पर पाँच भागों में विभक्त किया गया है :—

मध्यप्रदेश, उदीच्य या उत्तरापथ, प्राच्य, दक्षिणापथ तथा अपरान्त[३]।

उदीच्य या उत्तरापथ उत्तर भारत के लिए प्रयुक्त हुआ है। वसिष्ठ तथा बोधायन के धर्मसूत्रों में इसे सरस्वती के लोपस्थान से पश्चिम को ओर बताया है। इस उदीच्य के अन्तर्गत कई छोटे-बड़े जनपदों का उल्लेख प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है और उनमें से कई एक की पहचान डोगरी भाषा के प्रदेश से की जा सकती है। सियालकोट तथा उसके आस-पास का प्रदेश विस्तृत मद्र जनपद का एक भाग था। पंजाब के कई नाम वाहीक, आरट्ट, पंचनद इत्यादि प्रसिद्ध थे। कांगड़ा तथा उसके आस-पास के पहाड़ी प्रदेश का नाम त्रिगर्त मिलता है। कुल्लू घाटी तथा उसका समीपवर्ती प्रदेश कुलूत नाम से पुकारा

गया है। व्यास नदी से लेकर पश्चिम में गान्धार तक का प्रदेश केकय कहा गया है। पुंछ, राजौरी तथा उसके आस-पास के प्रदेश का उल्लेख दार्व तथा अभिसार नाम से मिलता है।

वैदिक साहित्य में डुग्गर

भारतवर्ष का प्राचीनतम साहित्य वैदिक साहित्य है जिसके अन्तर्गत चारों संहितायें, ब्राह्मणग्रन्थ तथा उपनिषद् आते हैं। ऋग्वेद के नदीसूक्त में सिन्धु, शुतुद्री, वितस्ता, विपाशा, असिक्नी, परुष्णी, मरुद्वृधा नदियों का उल्लेख है जो इसी डुग्गर प्रदेश में से या इसके निकट से होकर गुजरती हैं[४]। सिन्धु की पहचान सिन्ध नदी से, शुतुद्री की सतलुज से, वितस्ता की जेहलम से, विपाशा की व्यास से, असिक्नी की चनाब से तथा परुष्णी की रावी से की गई है। मरुद्वृधा नदी की पहचान स्टाइन ने मरुवर्धन से की है[५] जो किश्तवाड़ में से बहती हुई चनाब में मिल जाती है। ऋग्वेद में मुञ्जवान् पर्वत का उल्लेख है। जिमेर के मतानुसार हिमालय की यह चोटी कश्मीर के दक्षिण पश्चिम में स्थित है[६]।

शतपथ ब्राह्मण में उदीच्य के ब्राह्मणों का उल्लेख है, जिन्होंने कुरुपंचाल के ब्राह्मणों के साथ विवाद करके उन्हें हराया था[७]। इस उदीच्य प्रदेश में रहने वाले उत्तरकुरु, उत्तरमद्र, गान्धार, बाह्लीक, केकय तथा कम्बोज वंशों का उल्लेख मिलता है। इस उदीच्य की सीमा तो कश्मीर की घाटी से परे के प्रदेश को भी अपने भीतर ले लेती है, पर इसका मध्य तथा दक्षिण का भाग डुग्गर माना जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय में मद्र देश की सीमायें बहुत विस्तृत थीं। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तर-मद्रों को हिमवत् से परे उत्तरकुरुओं का पड़ौसी बताया गया है[८]। मद्रदेश के कई विद्वानों के नाम जैसे मद्रगार शौंगायानि काप्य पातंचल इत्यादि वैदिक साहित्य में मिलते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ५,११,४ तथा शतपथ ब्राह्मण १०,६,१,२ में केकय के राजा अश्वपति का वर्णन मिलता है, जिसकी विद्वत्ता की धाक दूर-दूर तक थी। दाशराज्य युद्ध में भाग लेने वाले यदु, अनु, द्रुह्यु, तुर्वश इसी डुग्गर प्रदेश के प्रतीत होते हैं। ऋग्वेद ७,१८ में तुर्वशों द्वारा रावी पार करने का उल्लेख है पर यह विवादग्रस्त है कि ये पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़े थे या पश्चिम से पूर्व की ओर।

रामायण तथा महाभारत में डुग्गर

रामायण के अयोध्याकाण्ड के ६८वें तथा ७१वें सर्ग में भरत के ननिहाल

केकय देश का उल्लेख है। भरत को लेने जाते हुए दूत वाह्लीक प्रदेश में से होकर जाते हैं और रास्ते में व्यास तथा सतलुज नदी को पार करते हैं। यह स्पष्ट है कि यहाँ पाठ वाह्लीक न होकर वाहीक होना चाहिए। महाभारत (कर्णपर्व ४४,७) में स्पष्ट लिखा है कि पाँच नदियों और छठी सिन्धु नदी के बीच में स्थित प्रदेश वाहीक है।

पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तरा स्थिताः।
तान्धर्मबाह्यानशुचीन्वाहीकानपि वर्जयेत् ॥

वाहीक शब्द का प्रयोग सारे पंजाब के लिए होता था अतः इसके पहाड़ी भाग के अन्तर्गत डोगरी भाषा का कुछ प्रदेश भी आ जाता है। इस डुग्गर प्रदेश का दक्षिण-पूर्वी भाग जो अब कांगड़ा कहा जाता है, महाभारत काल में त्रिगर्त्त नाम से प्रसिद्ध था। वनपर्व में उल्लिखित है कि जयद्रथ ने जब द्रौपदी-हरण किया तो त्रिगर्त्त का राजा सुरथ भी उसके साथ था[९]। युधिष्ठिर के चारों घोड़ों को उसने अपनी गदा से मार गिराया था। अन्त में अर्जुन ने त्रैगर्त्तों को भी जीत लिया। महाभारत के युद्ध में पाँच त्रिगर्त्तराज भाइयों का उल्लेख है जो कौरवों की ओर से लड़े थे और जिनके साथ लड़ने के लिए द्रौपदी के पाँच पुत्रों को नियुक्त किया गया था।

महाभारत के युद्ध के पश्चात् जब पाण्डवों द्वारा अश्वमेध का घोड़ा छोड़ा गया तो त्रैगर्त्तों ने ही उसे अपनी सीमा में रोकने का साहस किया था। आश्वमेधिक पर्व में केवल उन्हीं युद्धों का वर्णन है जिनमें अर्जुन को बड़ी कठिनाई से विजय प्राप्त हुई थी और उनमें सब से प्रथम और सब से विस्तृत विवरण त्रैगर्त्तों के साथ हुए युद्ध का ही है। उस समय त्रिगर्त्त देश का राजा सूर्यवर्मा था। युद्धक्षेत्र में अर्जुन के बाणों से पूरा बिंध जाने पर भी वह अपना हस्तकौशल दिखाता रहा और बदले में १०० बाण अर्जुन पर चला दिये। उसके दिवंगत होने के पश्चात् उसका छोटा भाई केतुवर्मा लड़ा। केतुवर्मा के मारे जाने के पश्चात् एक छोटे से बालक धृतवर्मा ने युद्ध का नेतृत्व सम्भाला। युद्धक्षेत्र में उस बालक की वीरता और फुर्ती को देख कर तो अर्जुन भी मन ही मन चकित हो उठे थे[१०]। कांगड़ा के वीरों की यह गाथा महाभारत के पृष्ठों में गूँजती हुई आज भी हमें डुग्गर भूमि की वीरता का परिचय देती है। आदिपर्व में यह कहा है कि पाण्डव एकचक्रानगरी को जाते हुए इस त्रिगर्त्त देश में से होकर निकले थे पर इस एकचक्रानगरी की पहचान अभी तक नहीं की जा सकी है[११]।

मद्र का उल्लेख महाभारत में कई बार आया है। आदिपर्व में चार मद्रों का उल्लेख मिलता है[१२]। उत्तरमद्र तो सम्भवतः हिमवत् से भी परे उत्तरकुरु की सीमा का स्पर्श करता था, दक्षिणमद्र रावी के पश्चिम का प्रदेश था, पूर्वमद्र सियालकोट के पूर्व की ओर का क्षेत्र रहा होगा, जिसकी पूर्वी सीमा त्रिगर्त्त को छूती रही होगी। कर्णपर्व के ४४वें, ४५वें अध्याय में कर्ण ने इस प्रदेश की तथा यहाँ के वासियों की खूब निन्दा की है। पाण्डु की पत्नी माद्री इसी प्रदेश की थी। महाभारत युद्ध में त्रैगर्त्तों के साथ मद्रक भी कौरवों की ओर से लड़े थे।[१३]

केकय देश के पाँच राजकुमार पाण्डव-पक्ष में सम्मिलित थे, पर दो राजकुमार विन्द तथा अनुविन्द दुर्योधन की ओर से लड़े थे।

अर्जुन की दिग्विजय के प्रकरण में तथा भीष्मपर्व में उल्लिखित जाति सूची में दार्व, अभिसार तथा उलूत का वर्णन है[१४]। उलूत तो कुलूत का ही अपपाठ प्रतीत होता है। यह कुल्लू तथा उसके आस-पास के पहाड़ी प्रदेश को द्योतित करता है। दार्वाभिसार की पहचान पुंछ, राजौरी तथा उसके आस-पास के प्रदेश से की जाती है[१५]। द्रोणपर्व में दार्वाभिसारों की गिनती व्रात्यों में की गई है[१६]।

वनपर्व के तीर्थ-यात्रा पर्व में कश्मीर के तक्षक नाग सम्बन्धी तीर्थ से लौटते हुए जिस देविका का उल्लेख है[१७], वह डुग्गर की देविका मानी जा सकती है पर अनुशासन-पर्व में उल्लिखित देविका कोई और देविका ही प्रतीत होती है[१८]।

पुराणों में डुग्गर

पुराण इस डुग्गर प्रदेश के विषय में पर्याप्त सामग्री प्रदान करते हैं। देविका नदी का वर्णन कई पुराणों यथा पद्मपुराण, मार्कण्डेय पुराण तथा मत्स्य पुराण, वामन पुराण, कालिका पुराण, अग्नि पुराण, नीलमत पुराण, विष्णुधर्मोत्तर पुराण में मिलता है पर इनमें से कई एक पुराणों की देविका डुग्गर की देविका नहीं है।

वायुपुराण में उदीच्य तथा पर्वतीय जातियों के वर्णन में केकय, दार्व तथा त्रिगर्त्त का उल्लेख है[१९]।

सब से अधिक विश्वसनीय सामग्री नीलमत तथा विष्णुधर्मोत्तर पुराण से उपलब्ध होती है। नीलमत पुराण में जलोद्भव राक्षस द्वारा पीड़ित प्रदेशों की सूची में दार्वाभिसार तथा मद्र का उल्लेख है[२०]।

जब कश्यप ऋषि ने भारत के पूर्व पश्चिम तथा दक्षिण के तीर्थों की यात्रा समाप्त कर ली तो नील नाग ने उनसे उत्तर दिशा के तीर्थों की यात्रा के लिए प्रार्थना की । उस प्रसंग में उन्होंने मद्र देश के तथा हिमवत् प्रदेश के पुण्यतीर्थों का उल्लेख किया है। इनमें विपाशा या व्यास नदी तथा उसमें मिलने वाली एक धारा देवह्लदा का उल्लेख है[२१] । इसी व्यास के उपरले स्रोतों का पर्वतीय प्रदेश कुल्लू है। डुग्गर प्रदेश की अन्य नदियों इरावती (रावी) देविका, आपगा, चन्द्रभागा तथा तौषी का उल्लेख भी इसी प्रसङ्ग में हुआ है[२२] । रावी का उपरला प्रवाह चम्बा के दक्षिण-पश्चिमी कोने में सर्व प्रथम दिखाई देता है। रावी, व्यास और सतलुज के उपरले प्रवाहों से घिरा हुआ प्रदेश ही प्राचीन त्रिगर्त है। चन्द्रभागा कश्मीर के दक्षिण पूर्व में हिमालय की गर्भश्रृङ्खला से निकली दो धाराओं भागा और चन्द्रा से बनी है। उत्तर पश्चिम दिशा से किश्तवाड़ पहुँच कर यह दक्षिण की ओर बह निकली है, जगलवाड़ स्थान पर यह पश्चिम की ओर मुड़ी है, अरनास में फिर दक्षिण की ओर रुख करके रियासी से होती हुई अखनूर पहुँची है और वहाँ से आगे सियालकोट जिले में जा बही है। तौषी शब्द का प्रयोग बूहलर ने तोही के लिए माना है जो पीरपंजाल के दक्षिण से निकलती हुई बहुत सी जलधाराओं के लिए प्रयुक्त होता है, जिन्होंने वितस्ता तथा चन्द्रभागा को पुष्ट किया है। नीलमत की तौषी तो जम्मू प्रान्त की तवी नदी प्रतीत होती है जो शुद्धमहादेव के ऊपरी भाग से निकल कर सियालकोट के निकट चनाब में जा मिली है। नीलमत में चन्द्रभागा को चन्द्रांशुशीतलजला और तौषी को तोषितभास्करा कहा है ये विशेषण क्रमशः इनके ठण्डे तथा गर्म जल की ओर संकेत करते हैं[२३] ।

तौषी के साथ ही आपगा नदी का उल्लेख है जिसकी पहचान सियालकोट के उत्तरपूर्व की पहाड़ियों से निकल कर बहती हुई अयुक नदी से की जा सकती है।

देविका की पहचान के विषय में पर्याप्त कठिनाई उपस्थित होती है। जम्मू प्रान्त में ही बहने वाली तीन जलधारायें देविका कही जाती हैं, जिनमें से एक शुद्ध महादेव के निकट, एक ऊधमपुर के निकट तथा एक पुरमण्डल के निकट है। पुराणों में वर्णित देविका के विशाल स्वरूप और माहात्म्य को ध्यान में रखते हुए तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि के द्वारा उल्लिखित देविका के किनारों का प्रसिद्ध चावलों की खेती का विचार करते हुए देविका की पहचान देग नदी से करना उचित प्रतीत होता है। जसरोटा के निकट जम्मू की पहाड़ियों

से निकल कर यह नदी पाकिस्तान के अन्तर्गत पश्चिमी पंजाब के सियालकोट, गुजरांवाला तथा शेखुपुरा जिलों में से होकर मिण्टगुमरी जिले की सीमा पर रावी में जा मिलती है।

देविका तथा इरावती के साथ ही नीलमत में तीन नदों कुम्भावसुन्द, विश्वामित्र तथा उद्द के नाम मिलते हैं[२४]। उद्द तो निश्चित रूप से उज्झ है तथा कुम्भावसुन्द और विश्वामित्र में से एक की पहचान आधुनिक वैसन्तर से की जा सकती है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण की बहुत-सी कथायें इसी डुग्गर प्रदेश से सम्बन्ध रखती हैं। मद्र देश का राजा पुरुरवा जब सौन्दर्य प्राप्ति के लिए हिमपर्वत को गया तो उसे रास्ते में ऊद्ध (आधुनिक उज्झ) नदी को पार करना पड़ा था[२५]।

मरुप्रदेश में रहते हुए एक प्रेत के पूर्व जन्म की कथा में उसे शाकल देश का बनिया कहा गया है। एक बार वह बनिया अपने पड़ौसी ब्राह्मण के साथ तौषी और चन्द्रभागा के संगम पर स्नान करने के लिए गया था, जहाँ भाद्रपद की श्रवणद्वादशी को दही चावल से भरा घड़ा दान देने से उसे दूसरे जन्म में मरुस्थल में भी दही चावल से भरा घड़ा प्रतिदिन मिलता रहा[२६]। इस पुराण में भी चन्द्रभागा के जल को शीतल और तौषी के जल को सूर्य से तप्त हुआ बताया गया है। तौषी सूर्य की पुत्री कही गई है तथा चन्द्रभागा को चन्द्र के अंश से निर्मित बताया गया है।

१६३वें अध्याय में पवित्र नदीसंगमों की सूची में व्यास सतलुज संगम, रावी सिन्धु संगम, चनाब जेहलम संगम तथा जेहलम सिन्धु संगम उल्लिखित हैं।

रामायण के पात्रों से सम्बन्धित एक कथा में विष्णुधर्मोत्तरपुराण डुग्गर का वर्णन प्रस्तुत करता है[२७]। गन्धर्वों द्वारा सिन्धु नदी के दोनों किनारों का प्रदेश हथिया लिये जाने पर केकय के राजा युधाजित् ने श्री रामचन्द्र जी को सन्देश भेजा। श्री राम ने गन्धर्व विजय के लिए भरत को नियुक्त किया। भरत की इस युद्ध यात्रा के विवरण में डुग्गर प्रदेश की नदियों, तीर्थों तथा राजाओं का वर्णन मिलता है। अयोध्या से चल कर गंगा, यमुना नदियों को पार करके कुरुक्षेत्र से होते हुए भरत गौरी नदी के किनारे पहुँचे। इस पुराण में गौरी नदी का ही दूसरा नाम शतद्रु बताया गया है। सतलुज के बाद उन्होंने विपाशा (व्यास) नदी पार की। वहीं पर कुणिन्दों का राजा महोदय, त्रिगर्त्त का राजा वसुधान, कुलूत का राजा जय तथा दाशेरक का राजा गोवाशन उनसे

मिले। वहाँ से आगे बढ़ कर उन्होंने रावी पार की जहाँ मद्रेश अंशुमान् तथा और पाँच पहाड़ी राजा उनकी सहायता के लिए आ पहुँचे। चन्द्रभागा को पार करके उन्हें अभिसार का राजा कृतञ्जय और कश्मीर का राजा सुबाहु मिले। फिर वे सब केकय देश पहुँचे। सिन्धु नदी के किनारे बड़ा घोर युद्ध हुआ जिसमें कुणिंद, त्रिगर्त्त, कुलूत, दाशेरक, मद्र, दार्व, अभिसार, केकय, कश्मीर तथा पहाड़ी प्रदेश के अन्य पाँच राजाओं ने भरत की ओर से भाग लिया। यह पांच पहाड़ी राजा जिनके नामों का उल्लेख नहीं है, डुग्गर प्रदेश के राजा ही प्रतीत होते हैं।

अन्य संस्कृत ग्रन्थों में डुग्गर

पाणिनि की अष्टाध्यायी में इस प्रदेश के कई जनपदों केकय, मद्र, त्रिगर्त्त, उदुंबर के नाम मिलते हैं[२८]। त्रिगर्त के छः आयुधजीवी संघराज्यों का उल्लेख पाणिनि ने किया है जिन के नाम काशिका में कौंडोपरथ, दण्डकि, क्रौष्टकि, जालमान, ब्राह्मगुप्त तथा जानकि दिये हैं[२९]। सिन्ध्वादिगण में उल्लिखित गब्दिक की समता डा० अग्रवाल ने चम्बा में गद्दियों के गद्देरन से की है[३०] दो नदियों उद्य तथा भिद्य की पहचान उज्झ तथा उज्झ के लगभग १५ मील पश्चिम में बई नदी से की गई है[३१]। पतंजलि के महाभाष्य में भी वाहीक के नगरों तथा ग्रामों की सूची में शाकल (सियालकोट) तथा पातानप्रस्थ (सम्भवत. पठानकोट) का उल्लेख है[३२]। देविका नदी के तट पर उत्पन्न होने वाली शालि को दाविकामूल कहा गया है।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता में भी इन जनपदों के नाम मिलते हैं[३३]। कल्हण की राजतरंगिणी में इस प्रदेश के बहुत से भाग जैसे भद्रावकाश (भद्र-वाह)[३४], काष्ठवाट (किश्तवाड़)[३५], दार्वाभिसार (पुंछ, रजौरी, नौशेहरा)[३६], राजपुरी (रजौरी)[३७], पर्णोत्स (पुंछ)[३८], वल्लापुर (बलावर)[३९] तथा बद्धापुर (सम्भवतः बब्बापुर पाठ चाहिए, बबौर) उल्लिखित हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद के ऋषियों से लेकर १२वीं शती तक के संस्कृत साहित्य-कार डुग्गर भूमि से परिचित रहे हैं। प्रदेश का नाम कालविशेष में कुछ भी रहा हो, भूमि वही है जिस के वीरों की गाथाएँ ऋग्वेद के युग से प्रारम्भ हो कर महाभारत और पुराणों में गूँजती हुई आज भी उसी स्वर में नेफा और हिमालय की चोटियों पर सुनाई दे रही हैं।

---

(१) ग्रियर्सन : लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इण्डिया, भाग ९ ।

(२) जॉन बीम्ज : आउटलाइन्स आफ इण्डियन फिलालोजी पृ० ११, मानचित्र, देखिए पृ० १८ ।

(३) राजशेखर : काव्यमीमांसा पृ० ९३ ।

(४) ऋग्वेद १०,७५,५ ।

(५) स्टाइन : जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी वर्ष १९१७, सम रिवर नेम्ज़ इन दी ऋग्वेद ।

(६) जिमेर : वैदिक इण्डैक्स में उल्लिखित मत ।

(७) शतपथ ब्राह्मण, ११,४,१,१ ।

(८) ऐतरेय ब्राह्मग, ८,१४,३ ।

(९) महाभारत, वनपर्व, २७१, १२—१५, १८—२२, २८ ।
वहीं, उद्योगपर्व, १६४,९;१६६,९ ।

(१०) वहीं, आश्वमेधिकपर्व, ७४ ।

(११) वहीं, आदिपव, १५५,२ ।

(१२) वहीं, आदिपर्व, १२१,३९ ।

(१३) वहीं, भीष्मपर्व, ५१,७ ।

(१४) वहीं, भीष्मपर्व, ९,५४ ।

(१५) रायचौधरी : पालिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शैण्ट इण्डिया, पृ० २४८ ।

(१६) महाभारत, द्रोणपर्व, ९३ ।

(१७) वहीं, वनपर्व, ८२,१०२—१०४ ।

(१८) वहीं, अनुशासनपर्व, २५,९ ।

(१९) वायुपुराण, ४५,११७,१२१ ।

(२०) नीलमतपुराण,८० ।

(२१) वहीं, १०३ ।

(२२) वहा, १०६—१०८ ।

(२३) वहीं, ११६ ।

(२४) वहीं, १०९—११० ।

(२५) विष्णुधर्मोत्तरपुराग, १४८,१७ ।

(२६) वहीं, अध्याय १६२ ।

(२७) वहीं, अध्याय २००—२६६ ।

(२८) अष्टाध्यायी ७,३,२;४, २, १३१; ५, ३, ११६; ४, ३, ७३ के अन्तर्गत राजन्यादिगण

(२९) पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ४५८ प्रथम संस्करण संवत् २०१२
(३०) वहीं पृ० ४३।
(३१) वहीं पृ० ५२।
(३२) पतंजलिकालीन भारत पृ० ११७।
(३३) बृहत्संहिता, ३२,१९;९,१९;१६,३।
(३४) राजतरंगिणी, ८,५०१
(३५) वहीं ६,२०२
(३६) वहीं १,१८०
(३७) वहीं ६,२८६।
(३८) वहीं ४,१८४।
(३९) वहीं ७,२२०,२७०।

—:o:—

डोगरी लोकगीतों में रामकथा

रामकथा हज़ारों बरसों से भारत के लोक जीवन का अंग बनती रही है। एक ओर संस्कृत तथा प्राकृतों के साहित्यकारों ने रामकथा के आधार पर अनेक काव्यों, महाकाव्यों तथा रूपकों की रचना की है जो शिष्ट साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं तथा दूसरी ओर जनभाषाओं के जनकवियों ने जन साधारण के भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी रामकथा का सहारा लिया है। भारत के विभिन्न प्रदेशों के लोकगीतों में रामायण के पात्र स्थानीय वेष-भूषा से सज्जित होकर विभिन्न युगों की बदलती परिस्थितियों की कहानी कहते हैं। पुत्र जन्म के समय गाये जाने वाले गीतों में प्रायः रामजन्म की चर्चा होती है। विवाह के गीतों में राम सीता के फेरे होते हैं। कन्या के पिता राजा जनक और वर के पिता अयोध्यापति दशरथ के रूप में उपस्थित होते हैं। रामकथा से सम्बन्धित इन लोकगीतों की जड़ें तो अतीत की उन गहराइयों में हैं जहाँ रामायण उपजी थी परन्तु हर नये युग का वसन्त इनमें नये फूलों और नयी पत्तियों का सम्भार सजा देता है। इन लोकगीतों में राम लक्ष्मण कौशल्या और सीता युगानुरूप नया रूप धारण करते रहे हैं। जिस कौशल्या माता की उदारता पुत्र जन्म के अवसर पर कई लोकगीतों में सुनाई पड़ती है, उसी कौशल्या को सामन्तवादी युग के अवशेष एक भोजपुरी लोकगीत में कठोर हृदया ठकुराइन के रूप में अंकित किया गया है। छठी के उत्सव में राजा के घर एक हिरन का वध कर दिया गया है। मंच पर बैठी रानी कौशल्या के आगे उसकी हिरनी बिनती करती है—"रानी, मांस तो कड़ाही में पक रहा है पर कृपया हिरन का चमड़ा मुझे दे दें। मैं उसे पेड़ पर टांगकर बार २ देखती रहूँगी और मन को यह समझा लूंगी कि मेरा हिरन मानों अभी जीवित है।" पुत्र जन्म के आनन्द में मग्न कौशल्या को हिरनी से कोई सहानुभूति नहीं। वह विरहिणी हिरनी को टका-सा जवाब दे देती है 'हिरनी तुम अपने घर जाओ। मैं तुम्हें चमड़ा नहीं दूंगी। मैं इस चमड़े से खंजड़ी मढ़ाऊँगी जिससे मेरे राम खेलेंगे' "जब-जब खंजड़ी बजती है तब-तब उसकी आवाज सुनकर हिरनी चौंक उठती है। वह ढाक के नीचे अपने हिरन को याद करती खड़ी रह जाती है।"[1] श्री कृष्णदास ने इस लोकगीत को उस सामन्तवादी युग का दर्पण माना है

जिसमें कठोर स्वार्थी जमींदार या राजा कमजोर विवश प्रजाजन की तनिक परवाह नहीं करते थे। कौशल्या तो निरपराध हिरन के चमड़े से बनी खंजड़ी बजाते राम को देखकर फूली नहीं समायेगी पर उस अभागिनी हिरनी का दुःख कौन सुनता जिसका सौभाग्य सिन्दूर शासित वर्ग की खुशियों के लिए सदा-सदा के लिए पोंछ दिया गया था। यहाँ किसी अज्ञात जनकवि ने उस समय की वह पुकार, वह बेबसी, वह पीड़ा इस लोकगीत द्वारा हम तक पहुँचा दी है।

गरीब किसानों के राम भी गरीब हैं। एक भोजपुरी गीत के अनुसार किसान राम ढेंकुली चलाते हैं और सीता जी क्यारी बनाती हैं। एक बार चोर उनके घर से गाय चुरा ले जाते हैं तो सीता जी रोने लगती हैं। उनकी ननद उन्हें समझाती हैं कि भाभी रोओ मत तुम्हारी आँखों का काजल बह जाएगा पर सीता जी उत्तर देती हैं कि काजल तो दो पैसे का है बाजार से मिल जाएगा पर गाय तो लाख रुपये की है अब वह कहाँ से आएगी ? एक किसान की पत्नी के लिए गोधन कितना बहुमूल्य होता है इसकी सूचना इस गीत में है।

एक उड़िया गीत में सीता ठकुरानी फटे पुराने वस्त्र पहने हुए हैं और राम टूटे हुए बर्तन में भात खा रहे हैं।

चटनी के शौकीन लक्ष्मण एक बार कच्चे आम लाते हैं। भौजाई सीता चटनी पीसती हैं पर सारी की सारी चटनी राम खा जाते हैं। लक्ष्मण आकर थोड़ी-सी चटनी माँगते हैं तो पता चलता है कि वह तो खतम हो गई। वह रोने लगते हैं।

इस प्रकार के अनेक घरेलू चित्र हमें रामकथा से सम्बन्धित लोकगीतों में मिलते हैं। वाल्मीकि और तुलसी को पूरी रामकथा कहनी थी अतः उन्हें राम के जीवन की छोटी-छोटी बातें कहने की फुरसत नहीं थी पर लोकगीतों के कवियों ने रामचरित्र की इन छोटी-छोटी बातों को गा कर रामायण के पात्रों को हमारे अत्यन्त निकट ला दिया है। डोगरी लोकगीत भी रामकथा को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। डोगरी के विवाह सम्बन्धी गीतों, घोड़ियों और सुहागों में राम और सीता को प्रमुख स्थान मिला है।

घर में कन्या सयानी हो गई है। वह चन्दन वृक्ष की ओट में खड़ी होकर पिता से वर खोजने की प्रार्थना करती है। उस की इच्छा है कि उस का वर रामचन्द्र हो, देवर लक्ष्मण हो, ससुर दशरथ हो और सास कौशल्या हो। वह पलंग पर बैठ कर अयोध्या का राजसुख भोगना चाहती है। इस गीत में राम

परिवार को आदर्श मान कर उस की चाह की गई है परन्तु वनवास की दुःखद घटना का परिहार कर के राजसुखों की ही कामना की गई है[२]।

श्री रामचन्द्र द्वारा स्वयंवर में धनुष तोड़ने की घटना का उल्लेख भी कई डोगरी लोकगीतों में है। कन्या के पिता से कोई पूछता है "तुम्हारी बेटी के साथ कौन विवाह करेगा?" आश्वस्त पिता उत्तर देते हैं कि रामचन्द्र जी धनुष तोड़ेंगे और वही मेरी कन्या से विवाह करेंगे[३]।

एक लोकगीत में हमें सूचना मिलती है कि सीता ने स्वयंवर रचाया है जिस में भाग लेने के लिए श्री राम सज-धज कर जा रहे हैं। उन का घोड़ा, पहनने के वस्त्र, आभूषण सब लाहौर से मंगवाये गये हैं। लाहौरी सामान से सजे राम जनकपुरी में जाकर धनुष उठायेंगे और सीता का वरण करेंगे[४]। पाकिस्तान बनने से पूर्व जम्मू प्रान्त और लाहौर के मधुर सम्बन्धों की ओर भी इस गीत में संकेत है।

राजा जनक तो आश्वस्त हैं कि राम धनुष तोड़ लेंगे पर डोगरी लोकगीत की सीता को चिन्ता है कि छोटी-सी आयु के राम से धनुष न टूटा तो उसे कुंआरी रहना पड़ जायेगा[५]।

यह चिन्ता भी "अतिस्नेहः पापशङ्की" होने के कारण है। बागों में उतरे राजकुमारों की सूचना सीता को सखियों ने दे दी थी[६]। दर्शन की ललचाई वह बागों में जा पहुँची जहाँ मुख से तो बात नहीं हुई पर नज़रें मिल गईं[७]। नयनों के उस मिलन ने ही सीता और राम दोनों को व्याकुल कर दिया है। सीता की सगाई अयोध्यापुरी में हो गई है। जन्मभूमि जनकपुरी से विदा होने का उसे दुःख तो होगा। रो रो कर सहेलियों तथा माँ से बिछुड़ना होगा परन्तु अयोध्या के नगर तथा ग्रामों में जाने का भी उसे चाव है। माँ की गोद से बिछुड़ने की पीड़ा और प्रियमिलन की उत्सुकता इन दोनों का सुन्दर मिश्रण एक लोकगीत में है।

दूसरी ओर राम के हृदय में भी कम उत्सुकता नहीं। घोड़े पर चढ़े राम को जब उनकी बहन रोकती है तो वह उसे कहते हैं कि उन्हें बहुत देर हो रही है उन्हें जल्दी जनकपुरी पहुँचना है[८]। राम के इसी उतावलेपन की झलक एक और गीत में हैं जहाँ सीता विवाहमण्डप में पहुंचने में देरी कर रही हैं। विवाह की वेषभूषा में वह पिता के सामने आने में सकुचाती हैं। उतावले राम स्वयं उन्हें बुलाने जा पहुँचते हैं और लज्जा से घबराई सीता को समझाते हैं कि

मुहूर्त का समय केवल एक घड़ी है वह निकल जायगा इस लिए उसे जल्दी पहुँचना चाहिए[९]।

बरात का दृश्य भी देखने योग्य है। रथ पहाड़ की उतराई पर से उतरते चले आ रहे हैं। हाथी घोड़े भी हैं और श्रीराम "बौंगले" पर चढ़े हुए हैं। "बौंगला" एक विशेष प्रकार की खुली पालकी को कहते हैं जिसमें वर बैठता है।[१०]

सीता के पिता के लिए एक कठिनाई उपस्थित हो गई है। राम और रावण दोनों बारात लेकर आ पहुँचे हैं। कन्या तो एक ही है अतः राम को सीता मिलेगी, रावण खाली लौटेंगे।[११] इस रूप में इस घटना का उल्लेख न वाल्मीकि ने किया है न तुलसीदास ने। स्वयंवर में आए राजाओं में रावण का उल्लेख आता है पर तुलसीदास के अनुसार वह धनुष को देखते ही चलता बना था।[१२]

सीता की विदाई के समय सखियाँ रोती हैं, माँ की आँखों में आँसुओं की बाढ़ आ जाती है! पिता बेटी को विदा करके निश्चिन्त होकर सोयेंगे।[१३] डोली अयोध्या पहुँचती है तो राम की बहन गाती है कि जनकपुरी का प्रदेश बड़ा सुन्दर है अब अयोध्यापुरी को सीता के स्वागत में सुन्दर बनाओ। घर-घर गैस जलाओ। मेरा भैया डोली लेकर घर आया है।[१४]

राजा दशरथ के द्वारा श्रवणकुमार के मारे जाने का मार्मिक वर्णन भी एक लोकगीत में है।[१५]

अयोध्या में राम के सुखी गृहस्थ जीवन का चित्र किसी डोगरी लोकगीत में नहीं मिला। "बारां म्हीनों" में जिनकी भाषा अवधी ब्रज तथा डोगरी मिली जुली है राम लक्ष्मण और सीता के वन गमन का वर्णन है। चैत्र मास में कैकेयी राम को वन जाने को कहती हैं। रामचन्द्र जी वन जाना स्वीकार करते हैं। लक्ष्मण सीता भी उनके साथ चले जाते हैं। कौशल्या हार तोड़ देती हैं, रोती चिल्लाती हैं। पूरी अयोध्या आखों से आँसू बहा रही है। कैकेयी ने खोटे वचनों का प्रयोग करके वनवास की प्रतिज्ञा ले ली है, अब भला पुत्र राम को कौन रोक सकता है?[१६]

पंचवटी में सुन्दर हरिण को देखकर सीता उसे लाने की प्रार्थना करती हैं तो राम उन्हें समझाते है कि यह कोई रावण का भेजा हुआ राक्षस है। परन्तु उनके बार-बार कहने पर वह लक्ष्मण को छोड़कर चले जाते हैं।[१७]

एक अन्य लोकगीत में सीताहरण का हृदय विदारक दृश्य वर्णित है। सीता पर्णकुटी में अकेली बैठी रसोई बना रही हैं। चन्दन की बिन्दिया उनके ललाट पर शोभा दे रही है। लंका के गढ से रावण भिक्षुक का वेष धारण कर कन्धे पर झोली डालकर निकला है। सीता के आँगन में आकर वह अलख जगाता है। रेखा में बंधी सीता से वह भिक्षा लेना स्वीकार नहीं करता और उसे हाथ बढ़ाकर भिक्षा देने को कहता है। सीता के हाथ बढ़ाते ही वह उसे उठा लेता है और लंका में पहुँचा देता है। वहाँ मन्दोदरी जिसे दमोदरी कहा गया है, उससे पूछती है कि तुम किसकी स्त्री हो तथा किसकी भाभी हो। सीता स्वाभिमान भरे शब्दों में कहती है कि मैं श्री रामचन्द्र की पत्नी तथा लक्ष्मण की भौजाई हूँ। "तो फिर इतने बड़े योधाओं को छोड़ कर यहाँ कैसे आई हो ?" मन्दोदरी के इस प्रश्न के उत्तर म सीता मानों डुग्गर की वीर नारी के स्वर में कहती है—"तुम्हारा रावण मर गया है। तुम्हें वैधव्य देने आई हूँ।"[१८] शत्रु के पंजे में कैद हुई नारी का यह स्वाभिमान बड़े-बड़े वीरों की वीरता को मात करता है। शत्रु की पत्नी को इतना करारा उत्तर देने वाली सीता अपनी विरह वेदना किससे कहे। चैत्र की कड़ी धूप में उसकी विरहाग्नि और भी भड़क उठी है पर वह चुपचाप उसे सह रही है।[१९]

दूसरी ओर राम भी कम दुखी नहीं। उनके बाग में अंगूर पक गये हैं। तोता मैना रुनझुन-रुनझुन कर रहे हैं, तथा चुन-चुन कर अंगूर खा रहे हैं। आनन्दमग्न इन पक्षियों को देखकर राम के मन पर क्या बीतती होगी यह जनकवि हमारी कल्पना पर छोड़ देता है। राम और लक्ष्मण अयोध्या के राजा हैं। राम की सीता चुरा ली गई है! राम और लक्ष्मण को इस बात का और भी दुःख है कि उन्हें अपना भुजबल दिखाने का अवसर नहीं मिला। कोई उनके सामने सीता को जबरदस्ती ले जाना चाहता तो वे भी अपनी वीरता से सीता की रक्षा करके दिखाते या प्राणों की बाजी लगा देते पर ऐसा हुआ ही नहीं। राम लक्ष्मण सीता को ढूँढते ढूँढ़ते थक गये हैं। हनुमान् भी सीता को ढूँढने निकले हैं पर सीता का कोई पता नहीं चलता।[२०]

हनुमान् लंका में पहुँच कर सीता के पास राम की अंगूठी फैंकते हैं तो वह राम के अनिष्ट की आशंका से डर जातीं हैं।[२१] मन्दोदरी रावण को समझाती है कि तुम पराई स्त्री को घर ले आए हो यह तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा।[२२]

इसी से मिलते जुलते एक अन्य लोकगीत में लंका में हुए युद्ध का उल्लेख

है। भगवान् की सहायता से हनुमान् हाथ का खण्डा बना कर अर्थात् नि:शस्त्र लड़ने की तैयारी करते हैं। फिर जंगल में निवास करते हुए रामचन्द्र भी लंका की ओर कूच कर देते हैं। योधाओं के युद्धभूमि में कूदते ही जो कुछ होना है हो जाता है और तलवारों की दुहाई मच जाती है। "दर्शन पाया जोत सवाई" से राम की विजय का संकेत मिलता है।[२३]

होली पर गाये जाने वाले एक गीत में भरत का राम लक्ष्मण तथा सीता से मिलन दिखाया गया है। घर के बड़े कमरे "पसार" में चारों भाई मिलकर बैठे हैं और चारों की आँखों से आनन्दातिरेक के आँसू बह रहे हैं।[२४]

अयोध्या लौटने के बाद राम के जीवन की घटनाओं के विषय में केवल एक "बार" मिलती है जिस का प्रमुख पात्र लक्ष्मण है। चौदह वर्ष के वनवास में लक्ष्मण की तपस्या राम से भी बढ़कर थी क्योंकि वह नवविवाहिता उर्मिला को अयोध्या में छोड़कर आये थे। सम्भवतः उसकी इसी साधना के आधार पर डोगरी लोकगीतों में लक्ष्मण को सिद्धयोगी के रूप में अंकित किया गया है।[२५] इतिहास और कल्पना का सुन्दर मिश्रण इस "बार" में है। श्रीरामचन्द्र अपने छोटे भाई लक्ष्मण को सलाह देते हैं कि वह गुरु गोरखनाथ को अपना गुरु बना ले। रो रो कर भाई से बिछुड़ कर तथा भौजाई सीता से आवश्यक शिक्षा लेकर वह गुरु के पास पहुँचते हैं। तथा उन्हें गायें चराने, गोबर इकट्ठा करने, चारा लाने तथा बरतन लाने का आदेश दिया जाता है। लक्ष्मण एक बार बरतनों के लिए एक कुम्हारिन सिरिया के पास गये। सीरिया ने उन्हें टाल दिया। लक्ष्मण के योगबल से सिरिया का घोड़ा मर गया, पति को साँप ने काट खाया तथा बेटा बेहोश हो गया। कुम्हारिन ने बहुत इलाज करवाये, मौलवी से "फांडा" भी करवाया, गुरु गोरखनाथ के आश्रम में भी गई पर कुछ न बना। जब निराश होकर लौटने लगी तो उसे रास्ते में लक्ष्मण मिले जिन्होंने उसका बालक, पति तथा घोड़ा ठीक कर दिया। कुम्हारिन ने सवा लाख बरतन लक्ष्मण को दिए। लक्ष्मण ने अपने प्रभाव से गोरखनाथ के सवा लाख चेलों को भोजन करवाया तथा जल दिलाया। गुरु गोरखनाथ यह सब देखकर पाताल चले गए। लक्ष्मण वहाँ भी जा पहुँचे। अन्त में गुरु गोरखनाथ ने उन्हें अपना शिष्य बना लिया। हजारों वर्षों के अन्तर पर उत्पन्न हुए ऐतिहासिक व्यक्तियों को इस लोकगीत ने एक मंच पर लाकर खड़ा कर दिया है। लोक साहित्य इतिहास पर कम और कल्पना पर अधिक आश्रित होता हे। उसमें तर्क से बढ कर श्रद्धा का स्थान है। इस गीत से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गुरु

गोरखनाथ के आगमन से पूर्व डुग्गरभूमि में राम लक्ष्मण लोकधर्म का महत्त्वपूर्ण अंग बने हुए थे अतः नाथपंथियों ने उन्हें भी गोरखनाथ के शिष्यों में गिनना आवश्यक समझा, महात्मा बुद्ध को भी लोकप्रिय होने के कारण पुराणों में विष्णु का अवतार मान लिया गया है। डुग्गर प्रदेश में अभी तक कनफटे नाथपंथी जोगियों के स्थान हैं। शुद्ध महादेव में इन जोगियों की गद्दी है। वैष्णोदेवी के प्रारम्भिक पुजारियों में नाथपंथी श्रीधर पण्डित का नाम मिलता है। डोगरी की कई बारों (वीर गाथाओं) तथा कारकों (सन्त-स्तुतियों) (जैसे कि बिरबतनाथ की कारक, बाबा सिंहगोरिया की कारक राजा मण्डलीक की बार तथा राजा होडी की बार) में गुरु गोरखनाथ का उल्लेख है।

गुरु गोरखनाथ का समय विवादास्पद है। राहुल सांकृत्यायन इन्हें दसवीं शताब्दी में हुआ मानते हैं। डा० रामकुमार वर्मा ने ज्ञानेश्वरचरित्र के आधार पर उन का समय १३वीं शताब्दी माना है। दार्शनिकता की दृष्टि से गोरखनाथ का मत शैवमत के अन्तर्गत आता है। राम लक्ष्मण को इस प्रकार गुरु गोरखनाथ से सम्बन्धित दिखाने वाले इस लोकगीत में धार्मिक समन्वय की भावना भी मिलती है।

इस प्रकार इन लोकगीतों में वर्णित दशरथ, कौशल्या, राम और सीता की कहानी त्रेता युग के राजा रानियों की ही कहानी नहीं है बल्कि यह तो डुग्गर के भोले मानवों की आपबीती है। उन का हर्ष विषाद, विरह मिलन, आशा निराशा सब कुछ इन गीतों में सुरक्षित है। इन छोटे-छोटे मनकों से राम कथा की पूरी माला बनेगी या नहीं इस बात की चिन्ता न लोक कवियों को थी न हमें है क्योंकि इन में से हर एक मोती अपनी चमक से डोगरी साहित्य को चमका रहा है।

—:०:—

(१) मचियै बैठी कौसल्या रानी हरिनि अरज करइ।
रानी मसवा त सिझहि करहिया, खलरिया हमें देतेऊ।
पेड़वा से टंगतिऊँ खलरिया त हेरि फेरि देखतिऊँ।
रानी देखि-देखि मन समुझउतिऊँ जनुक हिरना जियतईं।
जाहु हरिनि घर अपने खलरिया नाहीं देबईं।
हरिनि खलरी क खझड़ी मिढइबईं त राम मोर खेलिहंइ।
जब-जब बाजे खझड़िया सबद सुनि अनकइ।
हरिनी ठाढि ढंकुलिया के नीचे हिरन के बिसूरईं।

श्री कृष्णदास : लोकगीतों की सामाजिक व्याख्या पृ० २९

(२) बेटी चन्नन दे ओह्ले ओह्ले क्यों खड़ी ?
मैं तां खड़ी आं बावल जी दे पास ।।
बावल बर लोड़िये ।
बेटी केया जेया बर लोड़िये ?
बर होए सिरी राम लच्छमन देर होए ।
मात कौसल्या होवै सस्स, सौहरा दशरथ होए ।
मैं ता मंगनियां जुद्या जी दा राज,
पंघूड़े बैठी हुकम करां !

(३) कौन ब्याहे तेरी कन्या रामा ?
कौन तोड़ै तेरा धनुष रामा ?
रामचन्द्र ब्याहे मेरी कन्या रामा,
सोई तोड़ै मेरा धनुष रामा ।
डोगरी लोकगीत, भाग ४, पृष्ठ १६५

(४) चीरा ते तेरा बीरा लहौरी ते राम जी ने पहन के
बरनी ऐ सीता रानी क जाना शहर जनकपुरी ऐ ।
सीता ने स्वम्बर रच्चाया क राम बुलाया,
क धनुष उठाया क सारा शहर जनकपुरी ऐ ।।

आगे के पदों में लाहौर से मँगवाये 'कण्ठा' 'कङ्गन' और 'घोड़ी' का उल्लेख है । वहीं, पृष्ठ ८१

(५) जे धनष नि ट्रुट्टे तां
मैं रेई सेइयो कुआरी जी
धनष नि ट्रुट्टै दशरथ दे बालक ञ्याने
उमर छोटी बुद्ध सयानी
वहीं पृष्ठ १२५

(६) चल निरख नैन सिया प्यारी दो राजकुमार बनि आए
सुनी सखी दी बाणी सिया दर्शन गी ललचाई ।

(७) सांवरिया आई उतरे न बागें च
क दोए आई उतरे बागें च
मिथलापुरी दी रुकमण

दर्शन पा रेई ए बागें च
नजर मिला रेइ ए बागें च

डोगरी लोकगीत भाग ४, पृष्ठ १३२

(८) जे स्हाड़ा बीर घोड़ी पर चड़ेया
भैंने बांहीं दा फड़ेया, बीरा मुखों बोलदे क्यों नेईं ?
छोड़ो छोड़ो भैनों बडियो प्यारियो
हो रेई ऐ बौहुतड़ी देर, भैनों जाना जनकपुरी ।

वहीं पृष्ठ ९३

(९) उठ् हां सीता सुत्तिये श्री राम बरने गी आए ।
कियां उठां मेरे काह्न जी मैं ते बावल कोला शरमान्नी आं ।
बावल कोला शरमान्नियें, स्हाड़ी बेदी दे लगन खजानियें ।
बावल दी गोदी हरी भरी, स्हाड़ी बेदी दे लगन इक घड़ी ।

(१०) उच्चै चढ़ो के दिक्ख बावल ।
गड्डु ते रिढदो आई ए । गड्डा दे गडवान आए
हाथिएँ हथवान आए, घोड़ेयां सुआर आए
बौंगले बइ श्री राम आयें, अजैं ते जान्नी थोड़ी ऐ ।

वहीं भाग १ पृष्ठ १३१

(११) बावल घर इक कन्या, जान्नी दौं रिखियें दी आई ।
जी कुसी देचै इक कन्या, कुन्न जाना बचा थों खाली ।
जी राम जी गी इक कन्या, रावण जाना बचन थों खाली ।

डोगरी लोकगीत भाग १ पृष्ठ १३८

(१२) नृप भुजबलु बिधु सिवधनु राहू । गरुअ कठोर बिदित सब काहू ।
रावनु बानु महाभट भारे । देखि सरासन गवंहि सिधारे ॥

—रामचरितमानस, बालकाण्ड, २४९ दोहा के बाद चौपाई

(१३) डोगरी लोकगीत भाग ४

(१४) जनकपुरी दा मुलक सुहाना
घर-घर गैसां जगायो,
बीरा डोला लेइ घर आयो ।

वहीं भाग ४ पृष्ठ ९३

(१५) अन्धली ते अन्धला जलै दे प्यासे बेटा सरवन जल पलेया ।
चन्नन रुक्खे कन्ने झोली टंगियै सरवन लेई कर करमण्डल पानिए गी जा ।
जिस बनै बिच बोलन मोर कलाइयाँ उस बन पानी नाई
जिस बनै बिच डिङ्ङु ते मीनक उस बन्न पानिए गी जा
सारे बने बिच सरवन फिरेया इक छप्पड़ी नजर पेइए
योदेया जी दा चलेया दशरथ राजा छप्पड़ी पर बैठ पठर बना
जिस वेलै सरवन गड़वा डोबेया राजे दित्ता तीर चला
तीर जे लगदे सरवन डिग्गेया पेया रामो राम ध्या ॥

(१६) भाद्रों नीर नैन से बगै रो रो करन बछूड़े ।
राम कृष्ण रघुवर विष्णु कशल्या हार त्रोड़े ॥
खोटे बचन तूँ कहे ककेइये कौन पुत्तर नूं मोड़े ।
जै सिया राम हुन सुन्नी अजुद्या नेत्रों नीर नचोड़े ॥

(१७) कत्ते दे बिच बोले राम जी तूँ सुन भोलिये सीता
मिरग नई कोई राशक मानु भेस मिरग दा कीता
भेजेआ आया रावण दा जेड़ा फिरदा चुप चपीता ।

उपर्युक्त तीनों गीत श्रीमती चम्पा शर्मा से प्राप्त

(१८) भुजं पत्तर दी बनी कुटरिया
चनन बिन्दी लाई ओ ।
गढ लैंका दा चढेया रावण
मूंढे झोली पाई ओ ।
माता सीता करे रसोई
बेडे अलख जगाई ओ ।
बद्दी भिछ्या लैन्दा नेइयो
देआं दस्त बदाई ओ ।
दस्तु पगड़ी चुकी लैन्दा
लैंका बिच्च पुजाई ओ ।
माता दमोदरी पुच्छना कर दी
कोदी ऐं तूं इस्त्री ?
कोदी ऐं भरजाई ?
श्री रामचन्द्र दी इस्त्री
ते लछमन दी भरजाई ॥

एडे जोधे छोडे उत्थें
इत्थें किआं आई ।
रावण तेरा मरी गेआ
रण्डेपा देन आई ।

डोगरी लोक गीत भाग ६ पृष्ठ २

(१९) चढदे चेत्र धुप्प भखी ऐ । ए चढदे चेत्र धुप्प भखी ऐ।
सीता मनै बिच रहैन्दी चुप्प । कुसी दस्सां के दुख ?

वहीं भाग १ पृष्ठ १३८

(२०) रामै दे बागें बिच दाखां जे पक्कियां
मैना ते तोता चुनी चुनी खान्दे ।
मैना ते तोता रुनी-झुनियां लान्दे ॥
राम ते लछमन युधेया दे राजे।
रामै दी सीता चोरिया गेई ऐ ।
नई कोई जोरिया गेई ए ।
हनुमान योधा तुप्पने गी चलेआ
सीता बचारी लब्दी नईं ए ।
राम ते लछमन तुप्पने गी चले न।
तुपदे तुपदे थक्की बो जन्दे ॥

वहीं भाग १ पृष्ठ १३५

(२१) अक्खीं देख के मुण्दड़ी डरेआ, ते ए मुन्दड़ी राम दी।

वहीं भाग १ पृष्ठ १३८

(२२) तुक्की पुच्छै मन्दोदरी माई
कुसदी लै आया नार पराई
तेरा काल गए दा आई
ते ए दिन मरने दे ।

वहींभाग १ पृष्ठ १३८

(२३) करदा लड़ने दा सम्यान
मजती ऐं सिरी भगवान् ते खण्डा हत्थ दा ।
चढेया म्हीना माह बसाख, सिरी रामचन्दें आख

जिन्दे विच जोआडी बास, इत्थोंआं कैं पुट्टी लेआ बांस
कूच न लंक दे ।
पौन्दे योधे होई होआई, फरफर खण्डे साहब दुहाई
दर्सन पाया जोत सवाई ।

(२४) मिली लै भरत सिया राम आए । उट्ठ मिली लै ।
राम बी आए लछमन बी आए, हनुमान आए उप्पर चौर करी कें ।
उट्ठ मिली लै ।
बैठ पसारे मिले चारै भाई, नैंने दा नीर आवै ढली कै उट्ठ मिली लै ।
श्रीमती चम्पा शर्मा से प्राप्त

(२५) ओ लच्छमन जैसे जती नी होने
सीता जैसी नार होए ।
डोगरी लोकगीत भाग ६ पृष्ठ १२५

—:०:—

डोगरी लोकोक्तियों में नारी

किसी भी प्रदेश के जन जीवन का सच्चा चित्र हमें वहाँ के लोक साहित्य में ही मिलता है। लोकगीत, लोक कथायें, लोकोक्तियाँ, मुहावरे—ये सब धरती के पुत्र पुत्रियों की वास्तविक मनोदशाओं का अंकन करते हैं और विभिन्न परिस्थितियों के प्रति उनकी मानसिक प्रतिक्रियाओं का विवरण देते हैं। लोक साहित्य के विभिन्न रूपों में लोकोक्तियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके माध्यम से सैंकड़ों वर्षों से चले आ रहे मानव जाति के संचित एवं परिष्कृत अनुभव एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचते हैं। छोटी-छोटी लोकोक्तियों में भरा व्यावहारिक ज्ञान दैनिक जीवन की कई जटिल समस्याओं का हल सहज में सुझा देता है। परिवार, समाज, धर्म, राजनीति आदि मानव जीवन के सभी पहलुओं पर यह लोकोक्तियाँ प्रकाश डालती हैं।

डोगरी लोकोक्तियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं। अपने रूप और सामग्री में समृद्ध ये उक्तियाँ पारिवारिक जीवन के विभिन्न पक्षों को छूती हुई नारी जीवन का भी बड़ा मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करती हैं। सुन्दर पर्वतीय प्रदेशों में सुरक्षित इन लोकोक्तियों में वह स्वच्छ और निर्व्याज सौन्दर्य है जिसे कोई बाह्य कृत्रिमता अपने स्पर्श से कलुषित नहीं कर पाई है।

इस निबन्ध में नारी जीवन से सम्बन्धित कुछ ऐसी डोगरी लोकोक्तियों पर विचार किया गया हैं, जिनमें हम नारी को—पुत्री, माँ, पुत्रवधू, सास, पत्नी आदि विभिन्न रूपों में पाते हैं।

पुत्री के रूप में

किसी भी समाज में नारी का स्थान जानने के लिए कन्या जन्म के प्रति उस समाज में होने वाली प्रतिक्रिया का विशेष महत्त्व है। पुत्र के कारण वंश परम्परा चलती है। अत: हिन्दू परिवार में पुत्र को पुत्री से अधिक दर्जा दिया गया है। पुत्री तो पराया धन है। महाकवि कालिदास की उक्ति **"अर्थो हि कन्या परकीय एव"** (अभिज्ञान शाकुन्तल ४,२१) एक डोगरी लोकोक्ति में इस प्रकार दुहराई गई है—

"धियाँ पराया धन होन्दियाँ न।"

डुग्गर के गाँव में कन्या-जन्म उल्लास का अवसर न होकर प्राय: विषाद का अवसर होता है। एक कन्या का जन्म तो सह्य भी है परन्तु दूसरी, तीसरी या चौथी कन्या का आगमन तो विपत्तियों का घर माना गया है—

"इक धी सै धियो धी, दुई धी पुआड़ा !
त्री धी धाड़ पवै, चौत्थी धी जुआड़ा !!"

अर्थात् एक पुत्री सचमुच पुत्री है किन्तु दूसरी कन्या मुसीबत है, तीसरी वज्रपात है और चौथी तो पूरी तरह उजाड़ने वाली है।

इस में कोई सन्देह नहीं कि पुत्रियां घर के कामों में मां का हाथ बटा कर उसे सुख देती हैं, पर यह सुख थोड़ी देर तक रहता है। बेटियों के ससुराल चले जाने पर उनकी माँ को बुढ़ापे में सब काम स्वयं करना पड़ता है। पुत्रों की माँ तो बहुओं की सहायता से राज्य करती है पर केवल पुत्रियों की माँ को बुढ़ापे में भी पानी भरना पड़ता है—

"धियैं दी मा रानी, बुढ़ैपै भरदी पानी।"

कन्या का पिता होना भी कम कष्टकर नहीं होता। संस्कृत के कवि ने कहा है—**कन्यापितृत्वं खलु नाम कष्टम्**। रामायण में कहा गया है कि इन्द्र के समान उच्च पिता भी कन्या के कारण लोक में अपने समान पद वालों से ही नहीं अपितु अपने से निम्नपद वालों से भी अपमानित होता है। एक डोगरी लोकोक्ति में भी यही भाव है—

"बाबल राजा कदीं ना निवया, धिएं आन नवाया।"

उस अभिमानी पिता को जो कभी किसी के आगे अपना सिर नहीं झुकाता था, अपनी बेटियों के कारण विनम्र होना पड़ा है। इसी कारण पैर में बिवाई होने पर जो कष्ट होता है उसकी तुलना कन्यापितृत्व से की गई है—

"घर जाई निं होग, पैर बियाई ते होग।"

फिर भी यह कहकर सन्तोष कर लिया जाता है कि लड़कियाँ अपना भाग्य साथ लेकर उत्पन्न होती हैं—

"कुड़ियां अपने भाग कन्ने लेइऐ औंदियां न"

यद्यपि कन्या का विवाह बड़ी जटिल समस्या होती है पर अन्ततोगत्वा सभी की बेटियों के विवाह हो ही जाते हैं—

"कुड़ियां नि कुसे दियां बी ब्होणे रौंहदियां।"

मां के साथ पुत्री के घनिष्ठ सम्बन्ध की द्योतक कहावतें भी डोगरी में मिलती हैं। एक कहावत में कहा गया है कि जैसा गेहूँ बोया जाता है वैसा ही बीज उस से तैयार होता है। जैसी मां होती है वैसी ही बेटी होती है। जैसी कपास होती है वैसा ही सूत उससे बनता है और जैसा पिता होता है वैसा ही पुत्र होता है—

"माऊ पर धी, कनकै पर बी !
कपाऊ पर सूतर, बब्बै पर पुत्तर !!"

पुत्री के प्रति मां की उदारता का परिचय देने वाली एक लोकोक्ति है—

"मां देऐ छज्जें छज्जें, धी देऐ कुसै पज्जैं।"

अर्थात् मां तो बेटी को छाज भर भर कर देती रहती है, बेटी किसी विशेष बहाने से ही मायके में कुछ दे सकती है।

बेटी के उत्पन्न हो जाने पर ममता भरी मां अपना खाना पीना भूल कर अपना भाग भी बेटी को ही खिलाना चाहती है। इसीलिए कहा है कि अच्छा खाना तभी तक सम्भव है जब तक घर में पुत्री न हो और अच्छा पहनना तब तक ही हो सकता है जब तक पुत्रवधू घर में नहीं आई—

"धी नई तो खाई लै, नूँ नई तां लाई लै"

प्रत्येक मां अपनी पुत्री के लिए यही सोचती है कि वह काम तो खूब करती है पर खाती कुछ नहीं—

"धिए अत्तन पत्तनिएं, सेर ध्याड़ी कत्तनिएं।
डिढ भत्तोला खनिएं, नैंह भर पानी पीनिएं॥"

हे मेरी परिश्रमी पुत्री, तू दिन में सेर भर रूई कात लेती है परन्तु भोजन के समय डेढ दाने भात के खाकर तथा नाखून जितना पानी पी कर सन्तोष कर लेती है।

माँ के रूप में

स्त्री की सार्थकता उसके मातृत्व में ही है, इस भाव की सूचक एक लोकोक्ति है—

"चना चेत घना ते कनक घनी बसाख।
इस्त्री घनी तां जानिए जे मुण्डा होवे ढाक॥"

अर्थात् चने की फसल चैत्र मास में यौवन पर होती है, गेहूँ की फसल वैशाख में घनी होती है। नन्हें शिशु को अपनी बगल में लेकर चलने पर ही स्त्री का गौरव है।

मां के प्यार की तुलना उस शीतल छाया के साथ की जाती है जो संतप्त श्रान्त पथिक को शान्ति प्रदान करती है—

"मांवां ठंडियां छांमां।"

मां चाहे बच्चे को कितना भी क्यों न मारे फटकारे, उसके हृदय में बच्चे के लिए स्नेह का स्रोत ही रहता है—

"अपनी अम्बड़ी दरेह्ड़े चम्बड़ी फी अपनी अम्बड़ी।"

अर्थात् अपनी मां मारते मारते बच्चे की चाहे चमड़ी भी उधेड़ दे फिर भी अपनी माँ अपनी ही है।

परन्तु विमाता की फटकार तो बरसात की कड़ी धूप की तरह असह्य होती हैं—

"बरसांती दी धुप्प ते मातरेयां दी झिड़क इक्क बरोबर हुंदी ऐ।"

पुत्रवधू के रूप में

बचपन का स्वतन्त्र स्वच्छन्द जीवन मायके में बिता कर जब कन्या विवाह के पश्चात् ससुराल में पहुँचती है तो उसे ऐसा लगता है कि स्वच्छन्द उड़ानें भरने वाला पक्षी पिंजरे म बन्द कर दिया गया है। इस विवशता की द्योतक एक लोकोक्ति है—

"प्यौके कुसे राजे बनाए, गलिएं खूब दड़ंगे लाए।
सौहरे कुस भड़ूवे बनाए, उडदे पंछी पिंजरे पाए॥"

मायके किसी राजा ने बनाए होंगे क्योंकि वहाँ तो जी भर कर नाचने कूदने की स्वतन्त्रता थी परन्तु ससुराल न जाने किस भड़भूजे ने बनाए हैं, जहां उड़ते पंछी पिंजरे में डाल दिये जाते हैं।

विवाह के बाद यदि कन्या कभी कभी मायके में जाती रहती है तो उसका जी हलका हो जाता है परन्तु यदि उसे निरन्तर ससुराल में ही रहना पड़े तो उस की वही अवस्था होती है जो एक ही ओर से तवे पर पड़ी चपाती की।

यदि रोटी को उलट पलट कर सेका न जाय तो वह जल जाती है । केवल ससुराल में ही रहने वाली लड़की घुल घुल कर मरती है ।

"इक पासे भार पई दी रुट्टी बी सड़ी जन्दी ऐ ।"

प्रायः पुत्रवधू को भाइयों में विरोध डालने वाली कहा जाता है लोकोक्ति में कहा है—

"औण पराइयां जाइयां, बछोड़न सक्के भाइयां ।"

एक कहावत में यह भी कहा गया है कि कोई कोई बहू ही शुभ लक्षणों वाली होती है जिस के घर में पदार्पण करने पर सुख बरसने लगता है, कोई कोई ही पशु बांधने वाला खूँटा शुभ लक्षणों से युक्त हुआ करता है—

"कोई कोई झुण्ड सलख्खना ।
कोई कोई खुण्ड सलख्खना ।।"

जिस घर में कुलीन पुत्रवधू आती है वह घर स्वर्ग समान हो जाता है—

"कनक परानी, घ्यौ नमां, घर कुलवैंती नार ।
चौत्थी पिट्ठ त्रंग दी, सुरग नशानी चार ।।"

पुराना गेहूँ, नया घी, कुलवंती पत्नी तथा सवारी के लिए घोड़ा यह चार वस्तुएँ घर में हों तो घर स्वर्ग है ।

सास के रूप में

सास बहू की अनबन प्रसिद्ध है । अनेक कहावतों में सास के क्रूर व्यवहार का अंकन मिलता है । एक कहावत में कहा गया है कि जीवित सास का तो कहना ही क्या, दीवार पर चित्रित सास भी भयंकर होती है—

"सस्स कंधा लिखी दी नई मान ।"

सास कितनी भी सीधी क्यों न हो, वह पुत्रवधू से लड़े बिना नहीं रहती, ब्रंकड़ पौधा गीला भी हो तो भी जलने लगता है ।

"ब्रैंकड़ गिल्ली बी बलै ते सस्स गरीबनी बी लड़ै ।"

जब तक पुत्र का विवाह नहीं होता, सास को पुत्रवधू का बड़ा चाव होता है पर उसके आ जाने पर सास उससे सीधे मुँह बोलती भी नहीं है—

"पहले मंगदी नूंआँ, फी नीं बोलदो मूंहआं ।"

बिचारी पुत्रवधू इसी आशा में रहती हैं कि सास कभी परदेस जाए तो उसे भी खाने पीने और नाचने कूदने की स्वतन्त्रता मिले—

"परदेस गइ सस्स, नूहयें खा ते नूहयें टप्प ।"

सास की मृत्यु के पश्चात् तो पुत्रवधू को पूरा अधिकार मिल जाता है :—

"बुड्डी मोई, खंदोली थोई ।"

वृद्ध-विवाह तथा दोहरी प्रथा में स्त्री

डुग्गर प्रदेश में कुछ समय पहले तक वृद्ध-विवाह तथा दोहरी प्रथा प्रचलित थी। इन कुरीतियों से सम्बन्धित कहावतें डोगरी में मिलती हैं। बूढ़े पति की युवती स्त्री पति से जैसा चाहती हैं करवा लेती हैं—

"खसम बुड्डा, रन्न तरनी, जे गल्ल आखे सै गल्ल करनी ।"

दोहरी प्रथा में अपनी पुत्री या बहन देकर बदले में पुत्रवधू या पत्नी विवाह में लाई जाती है। इस लेन देन में कैसे विवाह होते हैं, इसका उल्लेख एक लोकोक्ति में इस प्रकार किया गया—

"बट्टो सट्टे दी कड़माई,
काणी गई ते गिल्ड़ी आई ।"

अर्थात् अदला बदली के इस विवाह में काणी के बदले गले में निकले गिल्लड़ से युक्त बहू मिली है।

पत्नी के रूप में

पत्नी के रूप में स्त्री का सौंदर्य और शील दोनों ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। स्त्री अच्छी घोड़ी की तरह लम्बे और पतले शरीर वाली, कम खाने वाली तथा लज्जायुक्त स्वभाव वाली होनी चाहिए—

"पतली, लम्मी, कमचरी, दूरा आवै संग !
ए नारी दी सिफत ऐ, ए घोड़ियां बनज !!"

पर पत्नी की सब विशेषताओं में से महत्त्वपूर्ण विशेषता उस की सच्चरित्रता है—

"दुद्ध बांकी म्हैंस सोह्‌बै, चाल बांकी घोड़िया ।
देया बांका मरद सोह्‌बै, सीलबैन्ती गोरिया ॥"

एक लोकोक्ति में कहा गया है कि वही पत्नी रानी अर्थात् आदर की पात्र होती है जिस का पति उसे चाहता हो—

"उए रानी जेड़ी खसमैं भानी।"

पत्नी के प्रति पति के भावों की द्योतक कुछ लोकोक्तियां भी मिलती हैं। एक में कहा गया है कि भारी भरकम शरीर वाली पत्नी चाहे आधी रोटी (बिलकुल कम) खाती हो, उस का पति यही सोचता है कि वह उस का घर लुटा रही है परन्तु पतले शरीर वाली चाहे चार रोटियाँ भी खाए, पति यही समझता है कि भूखी रहती है—

मोटी नार खाए खन्नी
कन्त कहे कोठा भन्नी
पतली नार खाए चार
कन्त कहे निरोधार

पत्नी से वियुक्त पति के हृदय की पीड़ा भी इन पंक्तियों में व्यक्त हैं—

घर घर बालियां अग्गां ते घर घर लग्गी लो।
पर तेरे बिन साह्ड़ी गोरिए बात न पुछै को॥

हर घर के चूल्हे में अग्नि जल रही है, हर घर में दीपक का प्रकाश है, पर हे प्रिये! तुम्हारे बिना मेरी बात पूछने वाला भी कोई नहीं है।

कुलटा तथा व्यसनग्रस्त स्त्री

डोगरी में जहां एक ओर नारी के सम्मान की सूचक कहावतें मिलती हैं वहां दूसरी ओर ऐसी कहावतें भी मिलती हैं जिन में बुरी स्त्रियों की निन्दा की गई है।

झगड़ालू स्त्री घर को नरक बना देती है:—

"रुक्खा भोजन, ऋण घना, घर कुलैहणी नार।
चौथे मैले कपड़े, नरक नशानी चार।"

तम्बाकू पीने वाली स्त्री भी निन्दित है—

"रन्न तमाकू छिक्कनी ते हाकम बड्डी खोर
त्रिया पुत्तर लाडला त्रैवै त्रट्टी चौड़॥"

अर्थात् तम्बाकू पीने वाली स्त्री, रिश्वत लेने वाला अधिकारी तथा लाड़-प्यार में पला पुत्र यह तीनों ही निकम्मे होते हैं।

खाने पीने में ही अधिक रुचि रखने वाली स्त्री अच्छी नहीं होती—

"तित्तरफंगी बदली ते रन्न मलाई खा।
ओ बरसै, ओ नस्सै, कदें बिरथा नई जा॥"

दूध पर से मलाई उतार कर अकेले ही खा जाने वाली स्त्री के पति का घर से निकल भागना ऐसे ही निश्चित है जैसे चितकबरे बादल का बरसना।

इस प्रकार इन डोगरी लोकोक्तियों में हमें नारी के विभिन्न रूपों के विषय में प्रशंसा तथा निन्दा का मिश्रण उपलब्ध होता है जो डुग्गर समाज में नारी की स्थिति पर प्रकाश डालने में सहायक है।

—:०:—

नीलमत पुराण में धर्मों का समन्वय

पुराणों में हमें हिन्दू धर्म के उस स्वरूप के दर्शन होते हैं जो अपने भीतर इस देश में प्रचलित प्राय: तत्कालीन सभी धार्मिक विचारधाराओं, सामाजिक रीतियों और परम्पराओं को समेटे हुए हैं। नीलमतपुराण में कश्मीर की प्राचीन संस्कृति से सम्बद्ध बड़ी रोचक सामग्री मिलती है। इस में कश्मीर की भौगोलिक, धार्मिक और सामाजिक स्थिति का विशद विवरण है कल्हण ने भी अपने ग्रन्थ राजतरंगिणी में, इतिहास ग्रन्थ के रूप में इस पुराण का महत्त्व स्वीकार किया है।

पुराणों में उपलब्ध भौगोलिक वर्णनों की यह एक प्रमुख विशेषता है कि उनमें वर्णित भारत की भूमि, मिट्टी, रेत और पत्थरों का ढेर भर नहीं अपितु एक जीवित शक्ति है। भारत की नदियां, निर्झर, वन और पर्वत जड़ वस्तु नहीं अपितु पावन देव देवियों के रूप में उपस्थित होते हैं। भारत भूमि के प्रति जन-मानस की इस अटूट श्रद्धा का प्रमाण हमें देश के हर कोने में स्थित तीर्थों के नामों और विवरणों में मिलता है। नीलमत पुराण में भी स्थान स्थान पर इसी प्रकार की भावनायें अभिव्यक्त की गई हैं। इनके अनुसार झरनों, नदियों और पर्वतों की इस शस्य-श्यामला भूमि का कण कण पावन है[1]। वैशम्पायन जनमेजय को बतलाते हैं कि पृथ्वी पर जितने भी तीर्थ हैं वे सब कश्मीर भू पर वर्तमान हैं। यहाँ पर नागों के पवित्र स्रोत, पुण्य पर्वत शिखर, पुण्यसलिला नदी, सरोवर, पवित्र देवालय और आश्रम हैं।[2] प्रत्येक झरना किसी न किसी नाग का स्थान है। प्रत्येक नदी किसी न किसी देवी का परिवर्तित स्वरूप है। हर शिखर किसी न किसी तपस्वी की तपोभूमि है।

नीलमत की ये लघु कथायें कश्मीर के भूभागों को केवल देवत्व ही प्रदान नहीं करतीं अपितु उनके माध्यम से धार्मिक समन्वय और सांस्कृतिक एकता का प्रसार भी करती हैं। इन गाथाओं में विष्णु, शिव, ब्रह्मा, बुद्ध, नाग, पिशाच, यक्ष, सभी ने घुल-मिल कर एक ही संस्कृति का ताना बुनने का कार्य किया है। जलोद्भव की कथा[3] से देवों के इस मित्रभाव की प्रतीति होती है। कश्मीर तथा उसके आस-पास के प्रदेशों की जनता को जलोद्भव ने अत्यन्त पीड़ित कर

रखा था। दार्वाभिसार, गान्धार, जुहुण्डर, शक, खश, तंगण, माण्डव, मद्र सभी जातियों को उनके देश से भगाकर वह उन सूने प्रदेशों में विचरण करता था। एक बार नील की प्रार्थना पर ऋषि कश्यप वहाँ आए। वहाँ की शोचनीय स्थिति देख कर कश्यप ऋषि ने जलोद्भव का नाश करने की प्रार्थना की। विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा अन्य देवी देवताओं सहित इस कार्य के लिए कश्मीर की भूमि में पहुँचे। शिव ने नौबन्ध शिखर पर, हरि ने दक्षिण शिखर पर तथा ब्रह्मा ने उत्तर शिखर पर अपना डेरा डाल दिया। यह तीनों चोटियां महेश्वर शिखर, हरि शिखर तथा ब्रह्मा शिखर के नाम से प्रसिद्ध हैं।[४] नामों की यह शृङ्खला भी धार्मिक समन्वय की भावना को प्रकट करती है। जलोद्भव सतीसर में छिपा हुआ था क्योंकि जल में उसे अवध्यता प्राप्त थी। विष्णु के आदेश से अनन्त ने अपने लांगल (हल) से सरोवर को जलरहित कर दिया। जलोद्भव ने अपनी माया से चारों ओर अन्धकार की सृष्टि कर दी। तब शिव ने चन्द्र, सूर्य दोनों को हाथों में पकड़ कर प्रकाश कर दिया। विष्णु का जलोद्भव दैत्य के साथ घोर युद्ध हुआ और अन्त में अपने चक्र से उन्होंने उसका सिर काट दिया।

भगवान् विष्णु की विजय की स्मृति में उसी स्थल पर स्वयं भगवान् शिव ने आश्रम बनाया। शेष देवों ने भी उसके पास ही अपने अपने आश्रम बनाये। इस प्रकार नीलमत पुराण में वर्णित यह नौबन्धशिखर के समीपका प्रदेश किसी एक विशेष देव का नहीं अपितु ब्रह्मा, विष्णु, शिव, अनन्त, सूर्य, चन्द्र, ऋषि, महर्षि, यक्ष, गन्धर्व, गुह्यक आदि सभी का निवास स्थान बताया गया है।[५] चक्रलाभ की कथा[६] विशेष रूप से शिव और विष्णु का मित्रभाव प्रकट करती है। भगवान् विष्णु का चक्र जलोद्भव के रक्त से मत्त हो कर सूने प्रदेश में घूमता हुआ शंकर के हाथ में आ गया। भगवान् शंकर उसे ले कर विष्णु के पास जा पहुँचे। भगवान् विष्णु ने शिवजी से हँसते हुए कहा—"हे देव! दैत्यों के संघ को विनष्ट करने वाला मेरा यह चक्र मुझे वापिस दे दीजिए"। हंसते हुए विष्णु को शिव ने परिहास में ही उत्तर दिया—"मैंने तो इसे स्वच्छन्द विचरता हुए पाया है, किसी से नहीं लिया। बदले में कुछ मिलेगा तो चक्र दूंगा।" चक्र के प्रेमी विष्णु यह शर्त भी मान गये। चक्र लेकर विष्णु ने उसी स्थान पर अपनी तथा शिव-पार्वती की मूर्तियों का हंसती हुई मुद्रा में निर्माण करवाया।

नीलमत में वैष्णव धर्म तथा शैव धर्म के इस समन्वय का प्रमाण विष्णु

और शिव की पत्नियों के अद्भुत सम्मिलन से भी उपलब्ध होता है।[७] कश्यप ऋषि की प्रार्थना पर शिव ने सती को कहा तो सती वितस्ता नदी का रूप धारण करके कश्मीर की जनता को पवित्र करने लगी। अकेले उससे यह कार्य सम्पन्न होना कठिन था इसलिए उसने ऋषि से निवेदन किया—"अत्यन्त पाप-युक्त लोगों को पवित्र करने का उत्साह मुझ में नहीं है आप शार्गंधर विष्णु की प्रिया लक्ष्मी को प्रेरित करें। वे तीनों लोकों को भी पवित्र करने में समर्थ हैं।" ऋषि ने विष्णु के पास जाकर इस कार्य के लिये प्रार्थना की। फलतः पति के आदेश से लक्ष्मी विशोका नदी के रूप में कश्मीर भू पर बहने लगी। वितस्ता को सूचना मिल चुकी थी अतः वह धौम्य ऋषि के आश्रम के पास ठहर कर विशोका की प्रतीक्षा करने लगी। विशोका ने वहाँ पहुँचते ही ईर्ष्या भाव को त्याग कर वितस्ता का आलिंगन कर लिया। क्योंकि वितस्ता वहाँ पहले पहुँची थी इस लिए दोनों के सम्मिलित जल-प्रवाह का नाम वितस्ता ही रहा। लक्ष्मी कश्मीरा देवी पर क्रुद्ध थी। उसने सती को पहले से सब सूचना देकर लक्ष्मी को धोखे में रखा पर सती के प्रति उसे तनिक भी ईर्ष्या नहीं हुई। बड़ी उदारता से उस ने कहा, "सती के मिलने से मेरा अपना नाम लुप्त हो गया है, इस बात पर लज्जित होने की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। जो मैं हूँ वही सती भी है।"[८]

उत्तरायण वर्णन में मधुसूदन की मूर्ति को घी से स्नान कराने का विधान है। परन्तु साथ ही यह भी कहा है कि शिव का भक्त शिव की मूर्त्ति को ही स्नान करा दे। इस प्रकार नीलमत पुराण में शैव तथा वैष्णव धर्म परस्पर विरोधी मतों के रूप में नहीं, अपितु एक दूसरे के सहचर के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं।

नागपूजा कश्मीर के लोकधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग रही है। भारतीय संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता है कि इस में विभिन्न तत्त्वों का संग्रह ऐसे समन्वयात्मक रूप से हुआ है कि कई बार कौनसा विशेष तत्व किस विशेष जाति का है यह पहचानना ही कठिन हो जाता है। नीलमत पुराण में नागपूजा का प्रमुख भाग जिस में अनेक देवी देवताओं की पूजा तथा अनेक उत्सवों का वर्णन है, नील नाग द्वारा ही कहा गया है।[९] प्रथमहिमपातोत्सव में नील तथा स्थानीय नाग की पूजा का विधान है।[१०] इरामञ्जरी पूजन के दिन सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित लोग इरा-उपवनों में जाकर अनेक देवी देवताओं की पूजा इरा पुष्पों से करते हैं। इन देवी देवताओं में नील नाग तथा स्थानीय

नाग भी सम्मिलित हैं। नील नाग तो स्वयं कहते हैं—"इरा नागों को प्रिय है, विशेषतः जो कोई इरावाट में मेरी पूजा इरापुष्पों से करता है उससे मेरी अत्यन्त तुष्टि होती है।"[११] इन्दुपक्ष की शुक्लपञ्चमी में भी नील नाग तथा स्थानीय नाग की पूजा का विधान है।[१२] देव-गृहों की यात्रा की विभिन्न तिथियों में पञ्चमी, द्वादशी तथा पौर्णमासी नागों के तीर्थों की यात्रा के लिए गिनी गई हैं।[१३]

यह बात यहाँ ध्यान में रखने योग्य है कि नीलमत में नाग पूजा को एक विशाल संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंश कहा गया है[१४] और नील नाग को वासुकि की तरह विष्णु का प्रिय बतलाया गया है।[१५] जलोद्भव राक्षस के नाश करने में अनन्त नाग ही विशेष रूप से विष्णु की सहायता करता है।[१६]

अन्य पुराणों से नीलमत पुराण की यह एक विशेषता है कि इस में नाग देव ही हिन्दू धर्म का अंग नहीं बने अपितु हिन्दू धर्म के देव भी नागों के रूप में उपस्थित हुए हैं। रुद्र (९३६), हर (९०६) शम्भु (८८८), भव (९००), महादेव (९१३), कुमार (८९८), वासुदेव (८९०) जनार्दन (९३९), नारायण, अनिरुद्ध (८९०), प्रद्युम्न (९३९), गोपाल (९४४), चक्रधर (९००), शत्रुघ्न, राम, लक्ष्मण, (९१३), हनुमान्, अङ्गद (९०६), महेन्द्र, इन्द्र (९२७) जयन्त (८८७), अर्जुन (८८६), भीष्म (९२६), धृतराष्ट्र (९०३) और युधिष्ठिर (९१३) इन सभी का उल्लेख नीलमत पुराण की नाग सूची में आया है।

बौद्ध धर्म के प्रति जैसा उदार भाव हमें नीलमत पुराण में दिखाई देता है, वैसा किसी भी अन्य पुराण में उपलब्ध नहीं होता। बौद्धमत के प्रसार के साथ हिन्दू धर्म ने बुद्ध जैसे प्रभावशाली धार्मिक नेता को विष्णु का अवतार मान लिया था। बहुत से पुराणों में बुद्ध को विष्णु के दश अवतारों में गिना गया है। इनमें से कुछ पुराण तो विष्णु के अवतार के रूप में बुद्ध का नाम मात्र देकर ही या नमस्कार मात्र करके ही मौन हो जाते हैं। कुछ पुराण बुद्ध के विषय में ऐसी कथायें कहते हैं जिन से प्रतीत होता है कि विष्णु ने बुद्ध का रूप असुरों को वेद मार्ग से विचलित करके उनका नाश करवाने को धारण किया था। इन पुराणों में बुद्ध सम्बन्धी कथाओं का उद्देश्य साधारण जनता के हृदय में उत्पन्न हुई शंकाओं का समाधान करना था। हिन्दू धर्म में यज्ञ के उच्च स्थान और बौद्धों के यज्ञ विरोधी सिद्धान्तों ने बुद्ध को यज्ञपुरुष विष्णु का अवतार मान लेने पर कुछ उलझन सी पैदा कर दी थी। इसी उलझन को सुलझाने का प्रयास इन कथाओं में है। नीलमत पुराण के रचयिता के दृष्टिकोण की उदारता का मूल्यांकन

करने के लिए कुछ अन्य पुराणों के बुद्ध सम्बन्धी उल्लेखों को परख लेना भी आवश्यक है।[१७]

विष्णुपुराण के १७वें, १८वें अध्यायों में मायामोह की कथा वर्णित है। दैत्यों तथा देवों के युद्ध में पराजित देवगणों ने विष्णु से प्रार्थना की कि हमारे शत्रु असुर—वर्ण धर्म के पालक, तपोनिष्ठ तथा वेद मार्ग के अनुगामी होने के कारण हम से पराजित नहीं किए जा सकते। आप ही कोई उपाय बतायें जिससे हम उन्हें मार सकें। विष्णु ने अपने शरीर से मायामोह को उत्पन्न किया जिसने पहले तो मुण्डित केश दिगम्बर के रूप में होकर असुरों को वेद मार्ग से विचलित करने का प्रयत्न किया, फिर रक्तवस्त्र धारण करके शेष असुरों को पशुहिंसा से हटा कर "यह जगत् विज्ञानमय है, निराधार है, भ्रमजन्य पदार्थों की प्रतीति पर स्थिर है, रागादि दोषों से दूषित है" इत्यादि बोध करवाया। असुरों द्वारा वेद-मार्ग छोड़ दिए जाने पर देवों ने उन्हें नष्ट कर दिया। इस पुराण में बौद्धमत के सिद्धान्तों का वर्णन करके उन्हें असुरों की पराजय में कारण बताया गया है। स्पष्ट है कि लेखक लोगों के हृदयों से बौद्ध धर्म के प्रभाव को क्षीण करना चाहता है।

अग्निपुराण के १६वें अध्याय में भी विष्णुपुराण की तरह ही एक कथा है। पर इस कथा की विशेषता यह है कि मायामोह को स्पष्ट रूप से शुद्धोदनसुत बुद्ध कहा गया है तथा उस के अनुयायी असुर, जिन्होंने मोहित होकर वेद धर्म को छोड़ दिया था बौद्ध नाम से पुकारे गए हैं।

भागवत पुराण में विष्णु के अवतारों का तीन स्थलों में वर्णन है और तीनों में ही बुद्ध को सुर-द्वेषियों को मोह में डालने वाला तथा पाषण्ड-गणों को प्रमादी बनाने वाला बताया गया है। वेदमार्ग में निष्ठित असुरों ने जब लोगों को पीड़ित करना प्रारम्भ किया तो विष्णु ने बुद्ध के रूप में अति प्रलोभनयुक्त वेष धारण करके असुरों को बहुत से उपधर्मों का उपदेश दिया जिस से वे वेद मार्ग से च्युत हो गए।

मत्स्यपुराण में भी यही कहा है कि असुरों का नाश करके धर्म की व्यवस्था करने के लिए ही विष्णु ने बुद्धावतार धारण किया था।

वराहपुराण में भी बुद्ध को लोगों को मोह में डालने वाला बताया गया है।

कश्मीर का नीलमत पुराण बुद्ध अवतार के विषय में इन सब पुराणों से

नितान्त भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। असुरों और देवताओं के संघर्ष का उल्लेख इस में नहीं है। नील नाग ने कश्मीर की जनता को बहुत से धार्मिक उत्सव मनाने के लिए आदेश दिया है। उन उत्सवों में एक बुद्ध जन्मदिनोत्सव भी है जिस का वर्णन सात श्लोकों में मिलता है। यहां बुद्ध को असुरों का उपदेशक नहीं अपितु जगद्गुरु कहा गया है। यद्यपि अन्य पुराणों में कहीं कहीं बुद्ध की पूजा का विधान है परन्तु वहां बुद्ध के अनुयायियों को असुर ही माना गया है। इस के विपरीत नीलमत पुराण में यह कहा गया है कि बुद्ध की मूर्ति की पूजा शाक्योक्त वचनों से ही की जानी चाहिए। बौद्धों के निवासस्थान में सफेदी कराने का, देवगृहों और चैत्यों में चित्र अंकित करने का तथा शाक्यों को वस्त्र भोजन और पुस्तकें देने का भी विधान है। नटों और नर्तकों के नाट्य और नृत्य से युक्त इस उत्सव में तीन दिन तक नैवेद्य अर्पित करने का, पुष्पवस्त्रादि से पूजा करने का तथा दीनों को दान देने का विधान भी है।[१८]

ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी में कश्मीर की जनता बुद्ध के जन्मदिवस को जिस उत्साह से मनाती थी उसका स्पष्ट विवरण हमें इस पुराण में मिलता है। हिन्दू धर्म के अनुयायियों का बौद्धविहारों तथा चैत्यों की सजावट में सक्रिय भाग लेना, बुद्ध की मूर्तियों की पूजा करना, बौद्ध भिक्षुओं को वस्त्र, भोजन तथा पुस्तकें देना और बुद्ध के जन्म-दिवस की प्रसन्नता में नृत्य अभिनय से युक्त उत्सव मनाना यह सब बातें कश्मीर में तत्कालीन धार्मिक समन्वय की भावना की परिचायक हैं।

—:०:—

(१) नीलमत—सर्वाः सरिद्वराः पुण्याः सर्वे प्रस्रवणास्तथा।
इमे च राजेन्द्र तथा सर्वे पुण्याः शिलोच्चयाः॥ १३५३॥

(२) वहीं— कश्मीरामण्डलं पुण्यं सर्वं तीर्थमरिन्दमम्।
तत्र नागह्लदाः पुण्यास्तत्र पुण्याः शिलोच्चयाः॥ २४॥
तत्र नद्यस्तथा पुण्याः पुण्यानि च सरांस्यपि।
देवालया महापुण्याः तेषां चैव तथाश्रमाः॥ २५॥

(३) वहीं— श्लोक ७६—१७४

(४) वहीं— तानेताञ्छिखरान्पश्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरान्।
नौबन्धशिखरो यस्तु स एव नृप शंकरः॥ १७८॥

दक्षिणोऽस्य हरिः पार्श्वो वामो ब्रह्मा प्रकीर्तितः ।
एतान् हि दृष्ट्वा मुच्यन्ते ये हि पापकृतो नराः ॥ १७९ ॥

(५) वहीं—श्लोक १८०—१८७

(६) वहीं—श्लोक १८८—१९६

(७) वहीं—श्लोक २३८—२८९

(८) वहीं—यन्मे नाम हृतं सत्या न मे व्रीडात्र जायते ।

(९) वहीं—एवमस्तु द्विजश्रेष्ठ वसन्त्विह नराः सदा ।
पालयन्तस्तु मद्वाक्यं केशवाद् यन्मया श्रुतम् ॥ ३६५ ॥

(१०) वहीं—मम पूजा च कर्तव्या स्थाननागस्य चाप्यथ ॥ ४६२ ॥

(११) वहीं—इरा नागेषु दयिता दयिता मे विशेषतः ।
इरावाटे तु यः पूजां करोति मम काश्यप ।
इरापुष्पैर्भृशं तेन तुष्टि में प्रजायते ॥

(१२) वहीं—श्लोक ७२९—३१

(१३) वहीं—पञ्चमी द्वादशी चैव पौर्णमासी तथैव च ।
सर्वेषामेव नागानां यात्राकर्मणि पूजिता ॥ ८४५ ॥

(१४) वहीं—ममांशः स तु नागेन्द्र नागानामीश्वरेश्वरः ॥२२२॥

(१५) वहीं—तस्यातिदयितश्चासि यथा नागः स वासुकिः ॥३५५॥

(१६) वहीं—श्लोक १६५—१६९

(१७) पद्मपुराण—भूमिखण्ड अध्याय १८, श्लोक ६६
विष्णुधर्मोत्तरपुराण—खण्ड ३, अध्याय ३५१, श्लोक ५४
भविष्यपुराण—श्लोक २३

अग्निपुराण—मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजिता वेदधर्मकम् ।
ते च बौद्धा बभूर्वुहि ... ... ॥ १६, ३

भागवतपुराण—ततः कलौ संप्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नामाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥ १. ३. २४
देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानाम् ।
पूर्भि मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः ।
लोकान्ध्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं ।
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम् । २. ७. ३७-८
बुद्धस्तु पाषण्डगणप्रमादात् प्रपातु । ७. ८. १९

मत्स्यपुराण—४७,२४७

वराहपुराण—रणवीर संस्कृत अनुसन्धान संस्थान, हस्तलिखित (संख्या ३५३३) अध्याय ४८ श्लोक १६

(१८) नीलमत—विष्णुर्देवो जगन्नाथः प्राप्ते ब्रह्मन् कलौ युगे ।
अष्टाविंशतितमे भावी बुद्धो नाम जगद्गुरुः ॥ ६४८ ॥
पुष्ययुक्ते निशानाथे वैशाखे मासि काश्यप ।
तस्मात् कालादथारभ्य काले भाविन्यतः परम् ॥ ६५८ ॥
शुक्ले संपूजनं तस्य यथा कार्यं तथा शृणु ।
सर्वौषधैः सर्वरत्नैः सर्वगन्धैस्तथैव च ॥ ६८६ ॥
बुद्धार्चा स्नापनं कार्यं शाक्योक्तैर्वचनैस्तथा ।
सुधासिताश्च कर्तव्याः शाक्यावासाः प्रयत्नतः ॥ ६८७ ॥
क्वचिच्चित्रयुतः कार्याश्चैत्या देवगृहास्तथा ।
उत्सवं च तथा कार्यं नटनर्तकसंकुलम् ॥ ६८८ ॥
शाक्यानां पूजनं कार्यं चीवराहारपुस्तकैः ।
सर्वमेतद् भवेत् कार्यं यावत् प्राप्ता भवेन्मघा ॥ ६८९ ॥
दिनत्रयं च कर्त्तव्यं नैवेद्यं विधिवद् द्विज ।
पुष्पवस्त्रादिपूजा च दानं दीनजनस्य च ॥ ६९० ॥

—:०:—

कालिदास के साहित्य में सिंगार और सज्जा

सौन्दर्य से प्रेम करना मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। मनुष्य आदिकाल से ही जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ साथ अपने आप को तथा अपने उपयोग में आने वाली सभी वस्तुओं को सुन्दर बनाने का प्रयास करता रहा है। अपने व्यक्तित्व को आकर्षक और सुन्दर बनाने के लिए वह नित नये साधनों और प्रसाधनों की खोज करता रहा है। कभी उसने अपने को वृक्षों के पत्तों से सजाया तो कभी रंग बिरंगे पंछियों के पंखों से। कभी मिट्टी, कांच या पत्थर के मनकों का प्रयोग किया तो कभी हड्डियों के टुकड़े ही सजावट के लिए प्रयुक्त किये। सभ्यता के विकास के साथ साथ वस्त्र, आभूषण, अंगराग, सुगन्ध आदि अनेक प्रसाधनों का भी विकास हुआ। भारत भी सिंगार और सज्जा के क्षेत्र में कभी पीछे नहीं रहा। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र, वात्स्यायनकृतकामसूत्र, ललितविस्तर, भरतकृतनाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में नानाप्रकार के वस्त्रों तथा प्रसाधनों के उल्लेख मिलते हैं। भारतीय संस्कृति के स्वर्णयुग के महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में तो तत्कालीन सिंगार और सज्जा का ऐसा मूर्त रूप हमारे सामने प्रकट हुआ है कि उसे देखते ही सौन्दर्य पिपासु सामाजिक आनन्द से पुलकित हो उठता है। उसी काल की मथुरा की मूर्तिकला तथा अजन्ता की चित्रकला में अंकित लावण्य योजना के साथ जब हम कालिदास वर्णित अलंकरण विधान की तुलना करते हैं तो गुप्तकाल की लौकिक संस्कृति का स्पष्ट चित्र सामने उभरने लगता है।

कालिदास सौन्दर्य प्रेमी कवि हैं और नैसर्गिक सौन्दर्य को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। उनके विक्रमोर्वशीय की नायिका का शरीर आभूषणों का भी आभूषण है और शृंगार की सामग्रियों का भी शृंगार है और उपमानों का भी प्रत्युपमान हैं।[1] इसी प्रकार शकुन्तला के विषय में कहा है कि वल्कल वस्त्र भी उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। मधुर आकृति वालों के लिए कौन सी वस्तु प्रसाधन नहीं बन जाती? फिर भी अभिज्ञान शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला सखियों द्वारा सजाई जा रही है। वृक्षों और वनस्पतियों ने शकुन्तला के लिए उपहार भेजे हैं किसी ने रेशमी वस्त्र का जोड़ा दिया है तो किसी ने पैरों की महावर। और वनदेवियों ने तो अनेक गहने भेज दिये हैं[२]। शकुन्तला को इन गहनों कपड़ों से सजाती संवारती हुई सखियाँ ऊपर ऊपर से चाहे भले ही कहें कि वह अच्छी तरह

सजाना नहीं जानतीं परन्तु शकुन्तला को उनकी निपुणता का पूरा भान है। "जाने वां नैपुणम्" ।[३]

कालिदास के पात्र विविध अवसरों पर तथा विविध ऋतुओं में विविध प्रकार के अनुकूल परिधान पहनते हैं। सामान्यतः पुरुषों के तीन कपड़ों का उल्लेख है सिर का वेष्टन या पगड़ी,[४] नीचे का अधोवस्त्र या धोती और कन्धों पर डाला हुआ उत्तरीय या दुपट्टा। स्त्रियों का कूर्पासक या स्तनांशुक (चोली)[५] और नीचे नीवीबन्ध या नाड़े से बन्धा अधोवस्त्र या घाघरा[६] प्रचलित था। राजसभा में राजकुमारों का वेष कुछ और होता था[७] और शिकार खेलने के समय कुछ और[८]। रघुवंश में मृगया के लिए गये दशरथ का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है "उनके केशों में वनमाला गुंथी हुई थी। वह वृक्षों के पत्तों के समान गहरे रंग का कवच पहने हुए थे। कानों में कुण्डल हिल रहे थे।"[९] इन्दुमती के विवाह के समय उसे "क्लृप्तविवाहवेषा[१०]" बताया गया है। पुरूरवा की व्रतचारिणो महारानी उजला सफेद रेशमी वस्त्र[११] पहने शरीर पर केवल सुहाग के गहने धारण करती हुई दिखाई पड़ती है। दुष्यन्त के वियोग में विरहिणी शकुन्तला भी 'वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षाममुखी धृतैकवेणी' है[१२]। मैले कपड़ों का जोड़ा और सूखे बालों की एक वेणी प्रोषितभर्तृका की परिचायक है। यही नहीं, ओठ भी लाली से रंगे नहीं गए अतः मुख "असंस्कारपाटलोष्ठ" है।[१३] परन्तु शिव की पूजा में उपस्थित पार्वती की सज्जा देखिए—"स्तनों के बोझ से झुके शरीर पर प्रातः काल के सूर्य के समान लाल लाल कपड़े पहने वह पार्वती ऐसे लग रही थी जैसे फूलों के गुच्छों के भार से झुकी लाल लाल कोंपलों वाली चलती फिरती कोई लता हो"।[१४]

उनके शरीर पर लाल-मणि को लज्जित करने वाले अशोक के पत्तों, सोने की चमक को मात करने वाले कर्णिकार के फूलों, और मोतियों की माला के समान उजले सिन्धुवार के फूलों के आभूषण सजे थे। कमर में केसर के फूलों की करधनी सजी थी। फूलों से लदा यह मोहक रूप भला किस के मन को नहीं लुभाएगा?[१५]

मेघदूत का यक्ष मेघ को अलकापुरी की रमणियों की सिंगार सज्जा का परिचय देते हुए कहता है—"वहां की कुलवधुएं हाथों में कमल के आभूषण पहनती हैं, अपनी चोटियों में नये खिले कुन्द के फूल गूंथती हैं, अपने मुंह को लोध्र का पराग मल कर गोरा करती हैं, अपने जूड़ों में नये कुरबक के फूल

सजाती हैं, कानों में सिरस के फूल लगाती हैं तथा वर्षा में फूलने वाले कदम्ब के फूलों से अपनी मांग संवारती हैं।[१६] परन्तु विरहिणी यक्षपत्नी तो पति के बिछुड़ने के दिन से ही जूड़े की माला खोलकर इकहरी चोटी बांधे बैठी है। रमणियाँ स्नान के बाद अपने केशों में भीनी महक बसा लेती हैं परन्तु यक्षपत्नी तो केवल जल से नहा कर रूखे और बिना संवारे बालों को ही धारण कर रही है।"[१७] "परिधूसरवसन" धारिणी विरहिणी शकुन्तला की तरह वह भी "मलिनवसन" ही पहने है परन्तु इससे यह मत समझिए कि कालिदास की नायिकायें बढ़िया कपड़े पहनना नहीं जानतीं। अलकापुरी का कामिनियों को तो कल्पवृक्ष से ही रंग बिरंगे वस्त्र (वासश्चित्रं) प्राप्त हो जाते हैं। यही नहीं, आँखों में मस्ती भरने वाला मधु, कोमल पत्ते और फूल, भाँति भाँति के गहने, पैरों मे लगाने का महावर यह सब शृंगार प्रसाधन अकेला कल्पवृक्ष ही प्रदान कर देता है।[१८] ऋतुसंहार में कालिदास ने छहों ऋतुओं तथा उनमें बदलते हुए नागरिक जीवन का बड़ा सुन्दर अंकन किया है। स्त्री-पुरुषों की वेषभूषा हर ऋतु मे बदलती दिखाई पड़ती है। वर्षा ऋतु में स्त्रियां महीन उजली सफेद रेशमी साड़ी पहनती हैं[१९] तो शिशिर में रंगीन कौशेय का प्रयोग करती हैं।[२०] शरद् ऋतु नयी दुलिहन की तरह काशांशुका होकर सामने आती है तो वसन्त ऋतु मे पृथिवी ही नववधू "रक्तांशुका होकर खिल रही है लाल लाल पलाश से ढकी हुई वह लाल साड़ी पहनने वाली नयी दुलहिन से कम नहीं है। ऋतुसंहार के कुछ वर्णनों में सिंगार और सज्जा की कुछ झांकियां देखिए— ग्रीष्म का समय है स्त्रियों ने बहुत हल्की रेशमी साड़ी पहन कर उस पर तड़ागी (करधनी) बांध ली है, चन्दन से पुते स्तनों पर हार धारण कर लिए हैं और नहाने के बाद जूड़ों को भीनी महक से युक्त कर लिया है। महावर से रंगे पैर और उनमें रुनझुन बजते हुए बिछुए भी कम आकर्षक नहीं हैं।[२१] शिशिर में हल्के वस्त्रों के स्थान पर भारी मोटे वस्त्रों का प्रयोग किया जाता है।[२२]

वर्षाकाल में कहीं नितम्बों तक लटकते हुए लम्बे केश दिखाई देते हैं तो कहीं केसर, केतकी और कदम्ब की मालाओं से सजे हुए जूड़े। ककुभ के मनोरम कर्णफूल कानों की शोभा को बढ़ा रहे हैं[२३]।

हेमन्त ऋतु में एक रमणी हाथ में दर्पण लिए प्रातःकाल की धूप में बैठी अपने कमल मुख का सिंगार कर रही है[२४]। या तो वह रंग से अपने मुख की लालिमा बढ़ा रही होगी (अनुपम मुखरागा) या फिर उस पर बेलबूटे चित्रित कर उसे "सपत्रलेख" कर रही होगी। माथे की बिन्दिया तो आवश्यक

है ही और नयनों में अञ्जन भी भूला नहीं जा सकता। शिशिर ऋतु में रंगीन रेशमी साड़ियाँ और कसी हुई चोलियां पहने, बालों में फूल गूंथे हुए रमणियां जाड़े का स्वागत करती हैं।[२५]

ऋतुराज वसन्त में तो नारी का शृङ्गार भी पराकाष्ठा पर जा पहुँचता है। केशर के फूलों से रंगी महीन चोली, कुसुम्भ के लाल फूलों से रंगी रेशमी साड़ी, कानों में कनेर के फूल, घुंघराली लटों में अशोक के फूल और नवमल्लिका की खिली हुई कलियां किसे आकर्षित नहीं करेंगी ?[२६]

इस प्रकार कालिदास के साहित्य में विभिन्न रंगों से सुशोभित अनेक प्रकार के वस्त्रों जैसे क्षौम, दुकूल, कौशेय, चीनांशुक, पत्रोर्ण आदि का उल्लेख है। वस्त्रों में रत्न भी लगाये जाते थे। रघुवंश में सांस से उड़ने वाले महीन वस्त्र और रत्नों से जड़ी ओढ़नी का वर्णन है।[२७]

कालिदास के साहित्य में आभूषणों की छटा भी दर्शनीय है। राजपुरुषों के मस्तक पर चूड़ामणि, किरीट, मुकुट और रत्नजाल, नारियों के सीमन्त में मोतियों की लड़ियां, कानों में कर्णफूल या कुण्डल, गले में विविध हार, ग्रैवेयक, मोतियों की लड़ी की मुक्तावली, बड़े मोतियों का तारहार और सोने का इकलड़ा हेमसूत्र, बाहों में अंगद और केयूर नामक भुजबन्ध, हाथ में कंकण और कनक-वलय, अंगुलियों में अंगूठियां, कमर में अनेक प्रकार की करधनियां जैसे हेममेखला, कांची, किंकणी, रशना, पैरों में नूपुर, मंजीर, यह सब आभूषण कालिदास के काव्यों में उल्लिखित हैं।[२८]

शरीर को सुकोमल, सुगन्धित और सुन्दर बनाने के लिए अनेक अनुलेपनों और अंगरागों का उपयोग भी किया जाता था। गर्मियों में खश का लेप या चन्दन का लेप शीतलता प्रदान करता था[२९] तो शरद् में केसर का लेप गरमी पहुँचाता था।[३०] कुमारसम्भव में शिव अपनी प्रिया पार्वती के गालों पर कस्तूरी से पत्रावली चित्रित करते हैं।[३१] मुख पर गोरापन लाने के लिए तथा चिकनाहट दूर करने के लिए लोध्र का प्रयोग किया जाता था।[३२] ओठों को मुलायम बनाने के लिए मोम (मधूच्छिष्ट) लगाया जाता था।[३३] आंखों में काला अञ्जन डाल उन्हें काला किया जाता था।[३४] भवों को भी अञ्जन लगा कर सुन्दर आकृति दी जाती थी।[३५] भवों के मध्य में सुन्दर तिलक मुख के सौन्दर्य को चार चांद लगा देता था। यह तिलक हरिताल और मेनसिल के लेप से या अञ्जन से या कुंकुम से या चन्दन से बनाया जाता था।[३६] भक्ति भी एक प्रकार का तिलक था।[३७] इस में या तो कुंकुम की छोटी छोटी

बिन्दियों का घेरा बना कर बीच में श्वेत चन्दन की बिन्दी बनाई जाती थी या चन्दन की बिन्दियों के मध्य कुंकुम की बिन्दी लगाई जाती थी। सारे मुख पर भी अगरु और गोरोचन मिला कर बनाए गये सफेद लेप से या कस्तूरी से सजावट की जाती थी।[३८] मुख पर की इस सजावट में यदि पत्तियों के डिजायन बनाए जाते थे तो उसे पत्रलेख कहते थे।[३९]

पैरों को लाक्षारस या अलते से रंगा जाता था।[४०] रघुवंश में प्रसाधिका से पैरों में महावर लगवाती हुई एक स्त्री का बड़ा सुन्दर वर्णन है जो अज और इन्दुमती को देखने के लिए आधी महावर लगे गीले गीले पैर से ही खिड़की की ओर भागने लगती है।[४१]

केशों को सजाने के विभिन्न प्रकार थे। स्नान के बाद गीले केशों को अगरु के धूएँ से सुखाया जाता ताकि उनकी सुगन्ध बालों में बस जाए।[४२] सूखने के बाद कभी खुले लम्बे केश नितम्बों तक लटकते रहते तो कभी उन्हें वेणियों में बांध दिया जाता। विरहिणी स्त्रियां तो एक ही वेणी रखती थीं परन्तु आसन्नभर्तृका या तो अनेक वेणियां रखती थी या उन्हें जूड़ों में बांध लेती थीं। वेणियों और जूड़ों को अनेक प्रकार के फूलों से सजाया जाता था। कुन्द, कुरबक, कदम्ब, मालती के फूल केशसज्जा का विशेष अंग थे। कालिदास के काव्यों में वर्णित इस केश-सज्जा के परिप्रेक्ष्य में जब हम अजन्ता की चित्रकला में तथा सारनाथ, मथुरा, गान्धार, भरहुत, सांची, खजुराहो आदि की मूर्तिकला में बीसियों प्रकार के मनोमोहक जूड़ों को देखते हैं तो साहित्य में प्रतिबिम्बित कला और कला में प्रतिबिम्बित साहित्य का गहरा सम्बन्ध स्पष्ट दिखाई देने लगता है।

—:o:—

(१) आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः ।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः ॥ विक्रमो० २,३
(२) अभिज्ञानशाकुन्तल ४,५
(३) वहीं ४,५ के बाद
(४) रघुवंश १,४२
(५) ऋतुसंहार १.७; ६,८
(६) नीवीबन्धं कुमार सम्भव ८,४
(७) अनुकूलवेषः रघुवंश ५,७६

(८) मृगयावेषम् अभिज्ञान शाकुन्तल २,७ के बाद
(९) रघुवंश ९,५१
(१०) वहीं ६,१०
(११) विक्रमोर्वशीय ३,१२
(१२) अभिज्ञान शाकुन्तल ७,२१
(१३) वहीं ७,२३
(१४) कुमारसम्भव ३,५३
(१५) वहीं, ३,५५
(१६) मेघदूत उत्तरमेघ २
(१७) वहीं उत्तरमेघ ३४
(१८) वहीं उत्तरमेघ १२
(१९) ऋतुसंहार २,२६
(२०) वहीं ५,८
(२१) वहीं १,४-५
(२२) वहीं ५,२
(२३) वहीं २,१८;२१-२२
(२४) वहीं ४,१४
(२५) वहीं ५,८
(२६) वहीं ६, ५-६
(२७) निश्वासाहार्यांशुकम् । रत्नग्रथितोत्तरीयम् ।
रघुवंश १६,४३
(२८) कुमारसम्भव ९,२३-२५;
ऋतुसंहार २,२०
(२९) वहीं २,२२
(३०) पयोधरैः कुंकुमरागपिञ्जरैः ऋतुसंहार ५,९
(३१) कुमारसम्भव ९,२३
(३२) मेघदूत, उत्तरमेघ २
कुमार सम्भव ७,९;१७
(३३) कुमार सम्भव ७,१८
(३४) वहीं ७,२०;७,५९
(३५) वहीं १,४७

(३६) कुमारसम्भव ७,२३; मालविकाग्निमित्र ३,५;
ऋतुसंहार १,२; ४,२

(३७) कुमारसम्भव ३,३०

(३८) वहीं ७,१५

(३९) ऋतुसंहार ४,५

(४०) वहीं १,५ कुमारसम्भव ७,५८

(४१) रघुवंश ७,७

(४२) शिरांसि कालागुरुधूपितानि ऋतुसंहार ४,५

—:०:—

रुय्यक की सहृदय लीला में नारीसौन्दर्य

नारीसौन्दर्य युग युगान्तरों से साहित्य और कला का प्रिय वर्ण्य विषय रहा है। महाकवियों की लेखनी रमणी के लावण्य का वर्णन करके धन्य होती रही है। चित्रकार की तूलिका और मूर्त्तिकार की छेनी ने भी उस सर्वातिशायी सौन्दर्य का अंकन करने में संतोष पाया है। यह सौन्दर्य क्या है? और इसके संरक्षण संवर्धन के कौन से उपाय हैं? इन प्रश्नों पर भी संस्कृत साहित्यकारों ने पर्याप्त विचार किया है। कश्मीर के प्रसिद्ध आलंकारिक श्रीराजानक रुय्यक की एक छोटी सी कृति सहृदयलीला काव्यमाला गुच्छक ५ इस विषय पर प्रकाश डालती है।

राजानक रुय्यक जिसका दूसरा नाम राजानक रुचक भी है, कश्मीर के महाकवि मंख का गुरु था। मंख ने अपने महाकाव्य श्रीकण्ठचरित की रचना ११३५—११४० ईसवी के बीच की थी अतः रुय्यक का समय बारहवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है। विद्यानाथ के प्रतापरुद्रीय (१२९५-१३२३ई०) में भी रुय्यक को उद्धृत किया गया है। रुय्यक की आठ कृतियों में से छः अलंकारसर्वस्व, काव्यप्रकाशसंकेत, साहित्यमीमांसा, अलंकारानुसारिणी, व्यक्तिविवेकविचार और नाटकमीमांसा तो साहित्यशास्त्र के ग्रन्थ हैं, हर्षचरितवार्तिक बाण के हर्षचरित की टीका है तथा आठवीं रचना सहृदयलीला सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी छोटा सा निबन्ध है। एक सच्चे सौन्दर्य पारखी के लिए सहृदय (रसिक) और उदार होना आवश्यक होता है इसलिए रुय्यक ने अपनी इस कृति का नाम भी सहृदयलीला रखा है। अलंकार सम्प्रदाय के इस प्रसिद्ध आचार्य की दृष्टि में जैसे भाषा को सजाने सँवारने के लिए अलंकारों का महत्त्व है उसी प्रकार मानव रूप विशेषतः नारी रूप को सजाने के लिए कई प्रकार के प्रसाधनों की आवश्यकता होती है। युवतियों का सौन्दर्य गुण, अलंकार, जीवित और परिकर इन चार तत्त्वों पर निर्भर होता है और सहृदयलीला के चार अध्यायों में क्रमशः इन्हीं चारों तत्त्वों का वर्णन है।[1]

शोभा को उत्पन्न करने वाले दस गुणों की व्याख्या पहले अध्याय में की गई है। यह गुण हैं—रूप, वर्ण, प्रभा, राग, आभिजात्य, विलासिता, लावण्य, लक्षण, छाया और सौभाग्य।[2] रूप का अर्थ है अंगों की विभाजक रेखाओं की स्पष्टता।[3]

शरीर का सौन्दर्य इसी में माना गया है कि प्रत्येक अंग का उतार चढ़ाव उचित मात्रा में हो तथा वह दूसरे अंग से स्पष्टतया अलग दिखाई पड़े। गोरे श्यामल आदि रंग जो त्वचा के विशेष धर्म हैं, वर्ण कहे गये हैं। शीशे की तरह चमकती सूर्य जैसी कान्ति प्रभा कही गई है। स्वाभाविक मुस्कान और चेहरे की रौनक जो सभी की आँखों को बाँध लेती हो, राग नाम से पुकारी जाती है।[४] फूलों सी वह कोमलता जिसे छूने पर सहलाने की इच्छा हो और जिसे पेशलता भी कहा जाता है, आभिजात्य नामक गुण है।[५] कामवासना से प्रेरित और यौवन को प्रकट करने वाली, अंगों और उपांगों की हाव भाव भरी चेष्टाएँ विभ्रम—विलासिता कही जाती हैं। यहाँ रुय्यक ने विभ्रम और विलासिता को पर्यायवाची माना है परन्तु दशरूपककार धनञ्जय के अनुसार विभ्रम जल्दबाजी में आभूषणों को उलटा सीधा पहनना होता है। तरंगित तरल पदार्थ के स्वभाव से युक्त, नेत्रों को तृप्त करने वाला, व्यापक, स्नेह और माधुर्य से पूर्ण, चमकते सूर्य के रंग के उत्कर्ष जैसा, पूर्ण चन्द्र की तरह आनन्द देने वाला, शारीरिक गठन के सौन्दर्य से अभिव्यक्त धर्म लावण्य कहलाता है। अंगों उपांगों की साधारण शोभा की प्रशंसा का कारण बना हुआ औचित्यात्मक स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है। यह लक्षण छः प्रकार के होते हैं। अङ्गों के उचित प्रमाण से अङ्गपूर्णता, दोषराहित्य से अदोष, स्पर्श में कोमलता से वैकल्य, वक्रनियत लोमों से तथा अंगों की सुश्लिष्ट गठन से सौन्दर्य, समुचित लम्बाई चौड़ाई में प्रमाणौचित्य तथा चक्र पद्म आदि चिह्नों के योग से लोकप्रसिद्ध विशिष्टाङ्गयोग ये छः भेद होते हैं। पान चबाते हुए, वस्त्र पहनते हुए, नाचते हुए, बातचीत करते हुए, चलते फिरते हुए नागरिक ढंग से बाँकपन को दिखाने वाली सूक्ष्म मुद्राएँ छाया नाम से पुकारी जाती हैं।[६] फड़कते हुए सौन्दर्य, उपभोग, सुगन्ध आदि से ज्ञात होने वाला, भीतर से तत्त्वयुक्त, अपनी रंगीनी से वश में कर लेने वाला, सहृदय लोगों के द्वारा अनुभूयमान धर्म सौभाग्य कहलाता है। फड़कते सौन्दर्य में तो काम की मस्ती और रोमाञ्च आदि आते हैं किन्तु उपभोग और परिमल में बोलचाल, रूपदर्शन, अधरपान, सुगन्ध, उपभोग आदि से पाँचों इन्द्रियों को आनन्द की प्राप्ति होती है। इन दस गुणों में से छाया और विलासिता तो अर्जित किये जाते हैं शेष स्वाभाविक होते है।

सहृदयलीला के दूसरे अध्याय में अलंकारों का वर्णन किया गया है। रुय्यक के अनुसार शरीर की सजावट को सात वर्गों में रखा जा सकता है:— रत्नमय, स्वर्णमय, अंशुकमय, माल्यमय, मण्डनद्रव्यमय, योजनामय और प्रकीर्ण।[७]

रत्न तेरह प्रकार के हैं—वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, कर्केतन, पुलक, रुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक तथा प्रवाल।[८] इनमें से कई रत्नों का विवरण कश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र ने नीतिकल्पलता में दिया है वज्रों के कई रंग तथा कई प्रकार कहे गये हैं। वेण्णातट के वज्र श्वेत होते हैं, कोसल से प्राप्त वज्रों का रंग शिरीष जैसा होता है, सौराष्ट्र के वज्र कुछ कुछ लाल होते हैं, हिमालय से प्राप्त वज्रों का रंग लाल होता है, कालङ्ग के वज्र पीले तथा पुण्ड्र देश से प्राप्त वज्र काले होते हैं।[९] बीस तण्डुल जितने आकार के वज्र का मूल्य दो लाख कार्षापण कहा गया है।[१०] छोटे से छोटा वज्र भी दो सौ कार्षापण का कहा गया है।[११] विभिन्न प्रकार के वज्रों से सम्बन्धित देवताओं का तथा उन वज्रों को पहनने का फल भी क्षेमेन्द्र ने बताया है। इसी प्रकार मुक्ता, पद्मराग, मरकत इत्यादि का विवरण भी उसने दिया है।[१२] सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में वज्र की कान्ति सफेद लाल पीली तथा काली बताई गई है। मोती भी चार तरह के पीले मधुर सफेद तथा नीले बताये गये हैं। मरकत मणि के आठ रंग होते हैं। एक मयूरपंख की तरह, दूसरा चाष के पंख की तरह, तीसरा हरे शीशे की तरह, चौथा सेवाल की तरह, पांचवा जुगनु की तरह, छठा बालकीर के पंख की तरह, सातवां हरी घास की तरह तथा आठवां शिरीष के फूल की तरह होता है। इन्द्रनील मणि नीले रंग की होती है। वैदूर्य कुछ पीला होता है। स्फटिक सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, अशोकपत्र, अनार के दानों की तरह कई प्रकार के होते हैं।[१३]

सोना नौ प्रकार का होता है—जाम्बुनद जो जम्बुनदी से प्राप्त होता था, शातकौम्भ जो शतकुम्भ पर्वत से मिलता था, हाटक हाटक पर्वत से मिलता था और वैणव वेणु नदी से प्राप्त होता था। शृंगी, शुक्तिज, जातरूप रसविद्ध तथा आकरोद्गत यह अन्य पांच प्रकार हैं।[१४]

रत्नों तथा सोने से बने हुए आभूषणों को पहनने के ढंग की दृष्टि से चार वर्गों में रखा गया है—आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य तथा आरोप्य।[१५]

आवेध्य—जो अंग को बेध कर पहने जाएं जैसे ताडी, कुण्डल, कानों की बालियाँ आदि। ताडी का उल्लेख कश्मीरी कवि बिल्हण के विक्रमांकदेवचरित के १२ वें सर्ग के १२ वें श्लोक में मिलता है। इस आभूषण की पहचान विवाहित कश्मीरी स्त्रियों द्वारा पहने जाने वाले कर्णाभूषण ड्यजहोरु से की जा सकती है। सोने की लम्बी जंजीरों या रेशमी धागों से कन्धों के नीचे तक लटकते हुए यह आभूषण किसी भी हिन्दू कश्मीरी स्त्री के विवाहित होने का

प्रमाण देते हैं। जिस सूत्र से यह आभूषण लटकते हैं उसे अभी तक तालिरज कहा जाता है।

निबन्धनीय—जो बांधकर पहने जाएं जैसे अङ्गद, श्रोणीसूत्र, मूर्धमणि, शिखादृढिका।

प्रक्षेप्य—जो डाल कर पहने जाएं जैसे अंगूठी, चूड़ी, मञ्जीर।

आरोप्य—जो आरोपित करके पहने जाएं जैसे लटकती हुई माला, हार, नक्षत्रमाला आदि।

उत्पत्ति की दृष्टि से वस्त्र चार प्रकार के बताए गये हैं। वृक्ष की छाल से उत्पन्न जैसे क्षौम, फल से उत्पन्न जैसे कपास के बने वस्त्र, कीड़ों से उत्पन्न रेशमी वस्त्र, पशुओं के रोओं से उत्पन्न राङ्कव या ऊनी वस्त्र।[१८] पहनने के ढंग की दृष्टि से वस्त्र तीन प्रकार के होते हैं—

निबन्धनीय—जो बांध कर पहने जाएं जैसे शिरः शाटक, काछ आदि।[१६]

कश्मीर में स्त्रियां दुपट्टा साधारण ढंग से नहीं ओढ़तो अपितु विशेष ढंग से उसे सिर पर बांधती हैं ताकि माथा सिर पूरी तरह ठंडक से बचा रहे। इस वस्त्र को तरंग कहा जाता है। इसी के लिए रुय्यक ने शिरः शाटक शब्द का प्रयोग किया है।

प्रक्षेप्य—जो डाल कर पहने जाएं जैसे कञ्चुलिका या चोली।

आरोप्य—जो ओढ़े जाएं जैसे दुपट्टा। रंग तथा छपाई के डिज़ाइनों के कारण इन वस्त्रों के कई प्रकार होते हैं। बाण के ग्रन्थों हर्षचरित तथा कादम्बरी में अनेक प्रकार की रंगाई तथा छपाई वाले वस्त्रों का वर्णन मिलता है। मानसोल्लास में मजीठ के रस से लाल किए, लाक्षारस से लाल किए, कुसुम्भ के रस में रंगे, सिन्दूर के रंग से रंगे, अभय रस से काले रंगे, नीले, शुकपिच्छ जैसे रग वाले कोयल के कण्ठ जैसे रंग वाले, श्वेत रेखाओं से युक्त, नाना रंगों की लकीरों से युक्त, पंचरंगे, चक्र और रेखा युक्त, तीन रेखाओं वाले, ऊपर के भाग में दूर दूर रेखा वाले तथा मध्य में सूक्ष्म रेखा वाले, वृत्तरेखा वाले, चतुष्कोण रेखा वाले, बिन्दु युक्त वस्त्रों का उल्लेख किया गया है। रुय्यक ने इन सबका उल्लेख न कर केवल अनेकविधत्वं वर्णविच्छित्तिनानात्वात् कह दिया है।[२०]

मालाओं के वर्णन में रुय्यक ने कहा है कि मालाएं गुंथी तथा न गुंथी होने से दो तरह की होती हैं। पहनने के ढंग तथा बनाने के ढंग की दृष्टि से मालाएं आठ तरह की होती हैं[२१]—

वाष्ट्रत—जो माला पूरे अंग को घेर ले ।

वितत—जो माला शरीर के एक भाग में फैली हो ।

संघाट्य—जो माला अनेक प्रकार के फूलों के समूह से बनाई गई हो ।

ग्रन्थिमत्—जिस माला के बीच बीच में गांठें हों ।

अवलम्ब—जो माला स्पष्ट हो अर्थात् पूरी तरह दिखाई देती हो ।

मुक्तक—जिसकी सजावट एक ही फूल से की गई हो ।

मंजरी—जब अनेक फूलों वाली लता को ही माला रूप में पहना जाए ।

स्तबक—जब फूलों के गुच्छों को माला रूप में पहना जाए ।

इन मालाओं के फिर आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य तथा आरोप्य यह चार भेद होते हैं । फूलों की सजावट का कश्मीर के प्रसाधनों में महत्त्वपूर्ण स्थान था । क्षेमेन्द्र के लोकप्रकाश में श्रृंगार चिह्नों के रूप में छप्पन प्रकार के फूलों का उल्लेख है ।[२२]

मण्डनद्रव्य के अन्तर्गत रुय्यक ने निम्नलिखित तेरह वस्तुओं का उल्लेख किया है—

कस्तूरी, कुंकुम, चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुलक, दन्तसम, पटवास, सहकार तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अञ्जन और गोरोचन ।[२३]

योजना या सजावट के अन्तर्गत भवें बनाना, केशों को कमल नाल के रूप में सजाना, जूड़ा बाँधना आदि आते हैं ।[२४] आज कल भी विवाह के समय कश्मीरी वधू के केशों को किसी चमकीले वस्त्र से लपेट कर उन्हें कमल नाल का रूप दिया जाता है । धम्मिल सिर पर बनाया गया ऊँचा और फैला हुआ जूड़ा प्रतीत होता है । चौरपञ्चाशिका में बिल्हण ने प्रिया के धम्मिल को मयूर के पंखों से अधिक सुन्दर बतलाया है ।[२५]

प्रकीर्ण अलंकारों के दो भेद हैं—१. जन्य, जो शरीर से ही उत्पन्न होते हैं जैसे पसीना, मधु के मद से उत्पन्न विकार आदि । २. निवेश्य जो बाह्य रूप से गृहीत हों जैसे दूर्वा, अशोकपत्र, जौ का अंकुर, चांदी, त्रपु, शंख, ताल पत्र, दन्तपात्रिका, कमल नाल के गजरे, हाथ के खिलौने आदि । इन सब अलंकारों का समूह बेष कहलाता है । देश, काल, व्यक्ति की प्रकृति तथा अवस्था के अनुसार इन का विभाग कर के यथास्थान प्रयोग करने से ये सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं ।

परन्तु वास्तविक सौन्दर्य इन सब अलंकारों या बाह्य प्रसाधनों में निहित

नहीं होता। प्रसाधन तो सौन्दर्य की वृद्धि ही कर सकते हैं, उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। वस्तुतः शोभा को अनुप्राणित करने वाला तत्त्व तो जीवित है जिसे यौवन कहा जाता है।[२६] इसी तत्त्व का वर्णन तीसरे अध्याय में किया गया है। बचपन के बाद आने वाली यह अवस्था जवानी कहलाती है जिसे कामदेव का निवास स्थान कहा जाता है।

यह अवस्था अंगों में उभार गठन और विभक्तता लाती है और इसी अवस्था में अनार की सी लालिमा फूट पड़ती है। वय:सन्धिकाल इस यौवन का आरम्भ होता है। मध्य में प्रौढकाल होता है। यौवन के आरम्भ में जूड़ा बनाना, अलकभङ्ग, नीविबन्धन, दन्तमंजन, परिष्कार, दर्पण देखना, फूल चुनना, माला गूंथना, जलक्रीडा, द्यूतक्रीडा, अश्लील या गूढ़ बात करना, बिना कारण शरमाना, शृंगारशिक्षा आदि चेष्टायें बार बार होती हैं। यौवन के अन्तिम काल में शृंगार के अनुभावों का तारतम्य ही श्रेयस्कर होता है।

सहृदयलीला के चतुर्थ अध्याय में व्यक्ति के निकट रह कर शोभा का उपकार करने वाले तथा उस शोभा को प्रकट करने वाले तत्त्व परिकर का वर्णन है।[२७] ये चेतन, अचेतन, चल तथा अचल रूप से चार प्रकार के हैं तथा इन में से प्रत्येक के श्लिष्ट तथा सन्निहित होने से ये आठ प्रकार के हो जाते हैं। गोद में स्थित प्रियतम, घोड़ा, नौकर चाकर, खिड़की, शामियाना, नौका छत्र आदि दर्शन कहलाते हैं। व्यस्त अर्थात् अलग अलग और समस्त अर्थात् इकट्ठे रहने वाले, इस दृष्टि से इन के भी दो दो भेद हैं।

इस प्रकार गुण, अलंकार, जीवित और परिकर परस्पर उपकारी होते हुए नारी सौन्दर्य को अभिव्यक्त करते हैं। दस गुण सौन्दर्य को जन्म देते हैं, यौवन उसे अनुप्राणत करता है, अलंकार उसे बढ़ाते हैं तथा निवास, परिवहन, नौकर चाकर आदि सुविधाएँ उस की अभिव्यक्ति में सहायक होती हैं।[२८]

—:०:—

(१) युवत्यादीनामुत्कर्षो देहे गुणालंकारजीवितपरिकरेभ्यः। गुणोल्लेखः प्रथम.।

(२) तत्र शोभाविधायिनो धर्मा गुणाः।

रूपं वर्णं प्रभा राग आभिजात्यं विलासिता।

लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमी गुणाः॥ वहीं।

(३) अवयवानां रेखा स्पाष्ट्यं रूपम्। वहीं

(४) नैसर्गिकस्मेरत्वमुखप्रसादादि: सर्वेषामेव चक्षुर्बन्धको धर्मो रागः। वहीं

(५) कुसुमधर्मा मार्दवादिलालनादिरूपः स्पर्शविशेषः पेशलताख्य आभिजात्यम् । वहीं

(६) अग्राम्यतया वक्रिमत्वख्यापिनी ताम्बूलपरिधाननृत्तभणितिगमनादिस्थानकेषु सूक्ष्मा भङ्गिश्छाया । वहीं

(७) रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डनद्रव्ययोजने ।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तैवैते मया मताः ।। अलंकारोल्लेखो द्वितीयः

(८) तत्र वज्रमुक्तापद्मरागमरकतेन्द्रनीलवैदूर्यपुष्परागकर्केतनपुलकरुधिराक्षभीष्म स्फटिकप्रवालरूपाणि त्रयोदश रत्नानि । वहीं

(९) वेण्णातटे विशुद्धं शिरीषकुसुमप्रभं कौसलकम् ।
सौराष्ट्रिकमाताम्रं वज्रं कृष्णं नु शूर्पारके ॥
ईषत्ताम्रं हिमवति मतङ्गजं वल्लपुष्पसंकाशम् ।
आपीतं च कलिङ्गे श्यामं पौण्ड्रेषु संजातम् ॥
नीतिकल्पतरु, अध्याय १०५, श्लोक १८-१९

(१०) विंशतितण्डुलप्रमितस्य हीरस्य कार्षापणानां द्वे लक्षे मूल्यम् । वहीं

(११) द्विमितस्य सहस्रांशः शतद्वयम् । वहीं

(१२) वहीं अध्याय १०६, १०७, १०८ ।

(१३) मानसोल्लास । श्लोक ५१५-५१७

(१४) हेम नवधा । सहृदयलीला अलंकारोल्लेखो द्वितीयः ।

(१५) चतुर्धा रत्नहेममयः आवेध्यनिबन्धनीयप्रक्षेप्यारोप्यभेदात् । वहीं

(१६) तत्र ताडीकुण्डलश्रवणवालिकादिरावेध्यः । वहीं

(१७) विक्रमाङ्कदेवचरित १२, १२ ।

(१८) चतुर्धांशुकमयः । त्वक्फलकृमिरोमजत्वात् क्रमेण क्षौमकार्पासकौशेयराङ्कवादिभेदात् । वहीं

(१९) तत्र निबन्धनीयः शिरःशाटकजघनवसनादिः । वहीं

(२०) सर्वस्यानेकविधत्वं वर्णविच्छित्तिनानात्वात् । वहीं

(२१) ग्रथिताग्रथितवशाद् द्विविधः सन्नष्टधा माल्यमयः । तत्रोद्वर्तितं वेष्टितम् । पार्श्वतो विस्तारितं विततम् । बहुभिः पुष्पैः समूहेन रचितं संघाट्यम् । अन्तरान्तरा विषमं ग्रन्थिमत् । स्पष्टोम्भितमवलम्बम् । केवलं मुक्तकः । अनेकपुष्पमयी लतामञ्जरी । कुसुमगुलुच्छं स्तबकः । वहीं

(२२) लोकप्रकाश, प्रथम प्रकाश शृंगारचिह्नम् ।

(२३) कस्तूरीकुंकुमचन्दनकर्पूरागुरुकुलकदन्तसमपटवाससहकारतैलताम्बूलालक्त-काञ्जनगोरोचनादिनिर्वृत्तो मण्डनद्रव्यमयः। सहृदयलीला अलंकारोल्लेखो द्वितीयः।

(२४) भ्रूघटनालकरचनाधम्मिलबन्धादियोजनामयः। वहीं

(२५) अद्यापि तां गतिनिराकृतराजहंसीं
धम्मिलनिर्जितमयूरकलापभारां।
चक्षुःश्रिया हसितमत्तचकोरनेत्रां
संचिन्तयामि कलकण्ठसमानकण्ठीम्॥ चौरपञ्चाशिका ११६।

(२६) शोभाया अनुप्राणकं यौवनाख्यं जीवितम्।
सहृदयलीला जीवितोल्लेखस्तृतीयः।

(२७) शोभाया आरादुपकारकत्वाद्व्यञ्जकः परिकरः
सहृदयलीला परिकरोल्लेखश्चतुर्थः।

(२८) एवं शोभासमुद्दीपकानुप्राणकव्यञ्जकाः क्रमाद् गुणालंकारजीवितपरिकराः। एवं परस्परोपकारकत्वादितरेतरानुग्राहकत्वं सिद्धम्। वहीं

—:०:—

ऋग्वेद में काव्य के विभिन्न तत्त्व

भारत की संस्कृति, सभ्यता और इतिहास पर वैदिक विचारों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। विभिन्न भारतीय भाषाओं पर भी इस साहित्य की छाप स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारतवासियों के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है जिसे किसी न किसी रूप में वेदों ने प्रभावित न किया हो। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी विवादास्पद विचिकित्सा के उपस्थित होने पर वेदों को प्रमाण माना जाता है। भारतीय विद्वानों की धारणा है कि वेदों में सभी विद्याओं का बीज रूप में वर्णन हुआ है। इस प्रकार हम भारतीयों के लिए वेद विश्वकोश सिद्ध हुए हैं। इनके अध्ययन और अध्यापन से सर्वविध विद्याओं का पर्याप्त ज्ञान हो जाता है जिसको पाकर अन्य विद्याओं को कुसुमित और पल्लवित किया जा सकता है।

प्राचीन समय से लेकर आज तक बड़े बड़े विचारकों, कवियों और साहित्यकारों ने विविध प्रकार के साहित्य का निर्माण करने के लिए वेदों से प्रेरणा ग्रहण की है। संस्कृत साहित्य की अमर विभूति महाकवि कालिदास ने अपने नाटकों और महाकाव्यों में जिस संस्कृति का प्रतिपदन किया है वह वैदिक संस्कृति ही है। न केवल महाकवि कालिदास अपितु भवभूति आदि प्राचीन तथा जयशंकर प्रसाद आदि अर्वाचीन कवियों ने भी अपनी कृतियों में किसी न किसी रूप में वैदिक विचारों का उपयोग किया है। वेदों के अनुष्टुप् छन्द को उत्तरवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं में अपनाया है। यदि काव्यात्मक सौन्दर्य को दृष्टि में रखते हुए वेदों का अध्ययन किया जाय तो बहुत से स्थलों पर चमत्कारपूर्ण वर्णन को देखकर पाठक विस्मय विमुग्ध हो जाता है।

ऋग्वेद में काव्य के तत्त्वों का अध्ययन करने से पहले हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि काव्य में प्रधान रूप से किस तत्त्व की अपेक्षा होती है। साहित्यदर्पण में विश्वनाथ ने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**[1] अर्थात् सरस वाक्य का नाम ही काव्य है। काव्यों अथवा महाकाव्यों में बहुत सारे सरस वाक्यों का समुच्चय होता है। बीच बीच में कुछ वाक्य नीरस भी आ जाते हैं परन्तु यथाशक्ति सरस वाक्यों को रखने का प्रयास किया जाता है। ऋग्वेद में भी यत्र तत्र सरस वाक्यावली

सुन्दर रूप में दिखाई देती है। अलङ्कार, रस तथा गुणों से समन्वित वाक्य रचना को देख कर सहृदय पाठक आनन्द विभोर हो जाता है और वह— "पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" (देव परमात्मा के काव्य को देखो जो न कभी नष्ट होता है और न कभी पुराना पड़ता है) अथर्ववेद के इस वचन पर सहज ही विश्वास कर लेता है। उत्तम काव्य वही होता है जिसमें रसाभिव्यक्ति के साथ साथ गुण और अलङ्कारों का भी समुचित सन्निवेश होता है और उसमें विभिन्न स्थलों पर प्रसङ्गानुकूल स्वाभाविक कथोपकथन, बाह्य प्रकृति का चित्रण तथा मानवादि की आन्तरिक प्रकृति का सम्यक् निरूपण होता है। ऋग्वेद में स्थान स्थान पर उत्तम काव्य के ये विभिन्न तत्त्व प्रचुर मात्रा में मिलते हैं।

काव्य की शोभा के आधायक धर्म—अलङ्कारों का प्रयोग ऋग्वेद में विभिन्न स्थानों पर देखने को मिलता है।[२] इन स्थलों पर र्, च्, म्, न्, और क् वर्णों की आवृत्ति होने से अनुप्रास अलङ्कार है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ऋग्वेद में शब्दालङ्कारों का प्रयोग शब्दों के सौन्दर्य को बढ़ाने की दृष्टि से नहीं हुआ है अपितु यहाँ भी अर्थ के क्षेत्र में इनका विशेष महत्त्व है। मन्दि सोम का मन्दी इन्द्र के साथ तथा रोचना का रोचन्ते के साथ निकटतम सम्बन्ध भी यहाँ दीख पड़ता है।

'जैसे भाई से रहित स्त्री (भाई का अभाव होने के कारण) वापिस आकर कभी कभी अपने पिता की सेवा करती है, जिस प्रकार धनों की प्राप्ति के लिए विधवा स्त्री सभामञ्च पर (न्यायाधिकरण आदि में) आरोहण करती है, जैसे रमणाभिलाषिणी पत्नी पति के लिए उत्तम वस्त्र पहनती है तथा जैसे प्रसन्न स्वभाव वाली पत्नी मुस्कुराती हुई अपने प्रेम को पति के सम्मुख प्रकट करती है, उसी प्रकार उषा सब पदार्थों के स्वरूपों को लोगों के सामने प्रकाशित कर देती है।[३] उषा सूक्त के इस मन्त्र में चार उपमायें हैं पहली उपमा भ्राता रहित कन्या की है। दूसरी अपुत्रा विधवा की है। तीसरी में उस पत्नी को उपमान बनाया गया है जो सुन्दर वस्त्र पहन कर पति के निकट पहुंचती है और चौथी उपमा का विषय मधुर मुस्कान को बिखेरने वाली पत्नी है। इसी प्रकार इसी सूक्त के चौथे मन्त्र में उषा की उपमा उस गृहिणी के साथ दी गई है जो स्वयं उठ कर सोते हुए परिवार के सदस्यों को जगाती है।

इसी प्रकार एक मन्त्र में उत्प्रेक्षाऽलङ्कार बड़े सुन्दर रूप में मिलता है। यहाँ कोई पुरुष बृहद् वन को सम्बोधन करते हुए कहता है—'हे विशाल वन, तुम

देखते देखते अन्तर्धान हो जाते हो। उस समय ऐसा लगता है मानों तुम बहुत दूर चले गये हो। तुम किसी निकट के गांव में जाने का रास्ता क्यों नहीं पूछ लेते? क्या यहाँ अकेले में तुम्हें डर नहीं लगता?[४] यहाँ प्रस्तुत विशाल वन में अप्रस्तुत दूर चले जानेवाले पुरुष की भी कल्पना की गई है। इस वेद के अक्षसूक्त के एक मंत्र में विरोधालङ्कार का सुन्दर रूप मिलता है। द्यूत में प्रयुक्त होने वाले पासे नीचे पड़े रहते हुए जुआरियों के सिर पर चढ़कर उन्हें अभिभूत किये रहते हैं। यद्यपि इनके हाथ नहीं होते तथापि ये हाथ वाले पुरुषों को हराकर अपने वश में किये रहते हैं। ये ठंडे होते हुए भी गर्म अङ्गारों की भाँति पुरुष के हृदय को जलाया करते हैं।[५]

इस वेद के विभिन्न स्थलों पर शृङ्गार और वीर रस के अनेक हृदयावर्जक स्थल हैं। पुरूरवा और उर्वशी के संवाद में रति नामक स्थायिभाव की पुष्टि अत्यन्त स्वाभाविक ढंग से हुई है। पुरूरवा उर्वशी से प्रेम भरे उलाहने से कहता है—

अरी कठोर हृदय वाली मेरी पत्नी! तुम सानुराग चित्त वाली होकर थोड़ी देर रुको जिससे हम लोग परस्पर मिलकर प्रेमभरी बातें करें। यदि हम दोनों में इस समय मधुर संलाप न हुआ तो आने वाले दिन सुखकारी नहीं हो सकेंगे।[६]

इसके उत्तर में अगले मन्त्र में उर्वशी मानवती नायिका की भाँति अपना महत्त्व बढ़ाने के लिए कहती है—

पुरूरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि—हे पुरूरवा! तुम जैसे आये हो उसी भाँति अपने घर लौट जाओ क्योंकि जैसे वायु को कोई निगृहीत करके अपने पास नहीं रख सकता वैसे ही मुझे पाकर अपने वश में रखना सम्भव नहीं है।

इसके बाद पुरूरवा बार बार उर्वशी से अपने साथ वापिस लौटने के लिए आग्रह करता है। परन्तु गतानुरागा नायिका की भाँति उर्वशी स्पष्ट शब्दों में उसके साथ जाने के लिए मना कर देती है। इस पर भावी विरह को सहने में असमर्थ पुरूरवा निराश प्रेमी की भाँति अपनी आत्महत्या करने के विचार को व्यक्त करता है और वह अपने आपको ऊँचे स्थान से गिराकर अथवा भेड़ियों के आगे डालकर मरने को तैयार होने की घोषणा करता है। इन सब बातों से जरा भी प्रभावित न होती हुई उर्वशी कहती है—

हे पुरूरवा! तुम्हें अब न तो आत्मघात करके मरने की आवश्यकता है और

न किसी ऊँचे स्थान से गिरना तुम्हारे लिए उचित हैं। अपने शरीर को भयंकर भेड़ियों के आगे भी डालना तुम्हारे लिए हितकर नहीं है। हे मेरे भोले प्रेमी! केवल इतना भर जान लो कि स्त्रियों का प्रेम किसी के प्रति स्थायी नहीं होता और इनके हृदय भेड़ियों के हृदय के समान कठोर होते हैं।[७]

यहाँ दोनों प्रेमियों के हृद्गत भावों का चित्रण अत्यन्त विशद रूप से हुआ है और इसमें किसी प्रकार की अस्वाभाविकता नहीं है। जहाँ प्रेम उभयपक्षीय न होकर एकपक्षीय होता है वहाँ यही रूप देखने को मिलता है। पुरूरवा भावुकता वश मरने को तैयार हो जाता है परन्तु उर्वशी पर इस सब का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता और वह पुरूरवा के प्रति अपनी उदासीनता प्रकट करती है। जब पुरूरवा को यह जंच जाता है कि वह मुझे हृदय से नहीं चाहती तो उसकी भावुकता दूर हो जाती है और उर्वशी भी अन्त में औपचारिक सभ्यता का निर्वाह करती हुई उससे कहती है कि हे इडापुत्र पुरूरवा! ये सारे देवता तुम से कह रहे हैं कि तुम मृत्युञ्जय हो ओगे, तुम्हारे पुत्र हवि से देवों की पूजा करेंगे तुम भी स्वर्ग में जाकर आनन्द लाभ करोगे[८] इस शुभ कामना से यह व्यङ्ग्यार्थ झलकता है कि वैसे तो मैं तुम्हारे लिए सुख समृद्धि की कामना करती हूँ परन्तु अपने से तुम्हें दूर ही रखना चाहती हूँ। इस प्रकार उर्वशी की आन्तर प्रकृति का यह निरूपण पूर्णतया विरक्त प्रेमिकाओं की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करता है।

इसी प्रकार इन्द्र सूक्त में वीर रस का सुन्दर निदर्शन मिलता है—

इन्द्र, ज्योतिर्मयी उषा की पताकाकिरण के समान तुम्हारा आयुध शत्रुओं के ऊपर गिरे। जैसे आकाश से वज्र गिरकर वृक्षों को विध्वस्त करता है वैसे ही तुम अनिष्टकारी शत्रुओं का अतीव गर्जनकारी अस्त्र से वेधन करो।[९]

ऋग्वेद १०,१०८ में पणि और सरमाका संवाद अत्यन्त रोचक तथा अकृत्रिम है। स्थान स्थान पर वैदर्भी रीति और प्रसाद गुण के हृदयग्राही उदाहरण देखे जा सकते हैं। पुरुष सूक्त का भी काव्य की दृष्टि से बहुत महत्त्व है।

यह विस्तृत (दृश्यमान) जगत् उस जगन्नियन्ता की महिमा को बता रहा है। वह परम प्रभु अपने इस विशाल जगत् रूप में दिखाई देनेवाले स्वरूप से भी बड़े हैं। समस्त लोक तो उनके विशाल परिमाण का एक चौथाई भाग है परन्तु इनके स्वरूप के तीन अंश तो दिव्यलोक में हैं और वे दिखाई नहीं देते हैं।[१०]

यहाँ परमात्मा के परम महान् स्वरूप को बहुत चमत्कारपूर्ण ढंग से बतलाया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में जहाँ अन्य अनेक विध विद्यायें वर्णित हैं वहाँ काव्य के विभिन्न तत्त्व भी विद्यमान हैं। वेदों का यह काव्यात्मक रूप काव्य मर्मज्ञों को परम आह्लाद प्रदान करता है॥

---

(१) साहित्यदर्पण १,२

(२) रोचन्ते रोचना दिवि ऋग्वेद १, ६, १

मन्दिमिन्द्राय मन्दिने।
चक्रिं विश्वानि चक्रये॥ वहीं १, ९, २

(३) अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची
गर्तारुगिव सनये धनीनाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा
उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥

अव्यसन्न ससतो बोधयन्ती
शश्वत्तमागात् पुनरेयुषीणाम्॥ वहीं १, १२४, ७; ४

(४) अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दति॥ वहीं १०,१४६,१

(५) नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य-
हस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥ वहीं १०,३४,९

(६) हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे
वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते
मयस्करन् परतरे चनाहन्॥ वहीं १०,९५,१

(७) पुरूरवो मा मृथा मा प्र पप्तो
मा त्वा वृकासो अशिवास उ क्षन् ।
न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति
सालावृकाणां हृदयान्येता ॥ वहीं १०,६५,१५

(८) वहीं १०, ६५, १८

(६) प्र शोशुचत्या उषसो न केतुर-
सिन्वा ते वर्ततामिन्द्र हेतिः ।
अश्मेव विध्य दिव आसृजान-
स्तपिष्ठेन हेषसा द्रोघमित्रान् ॥ वहीं १०,८६,१२

(१०) एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥वहीं १०,६०,३

—:०:—

पुराणों के विभिन्न संस्करण और उनके रचयिता

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास और संस्कृति का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पुराणों का अध्ययन करना आवश्यक है। पुराणों का निर्माण बहुत धीमे धीमे अनेक शताब्दियों में अनेक विद्वानों ने किया है। इस साहित्य में इन्होंने अपने समय में प्रचलित सभ्यता, संस्कृति तथा विशिष्ट धार्मिक सम्प्रदायों का तो प्रतिपादन किया ही है, परन्तु पूर्वकालवर्ती वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के भी बहुत से विचारों को समाविष्ट कर लिया है। इस कारण पुराणों के अध्ययन से हमें भारतीय संस्कृति और सभ्यता के प्रायः सभी अंगों का ज्ञान हो जाता है।

आजकल हमें ब्रह्म, विष्णु, अग्नि, मार्कण्डेय, भागवत आदि अठारह महापुराण उपलब्ध होते हैं। प्रथम ई० पू० से ईसा की पंचमी शती तक के अश्वघोष, कालिदास, भवभूति आदि कवियों के महाकाव्य और नाटकों की भाषा से इन सभी पुराणों की भाषा बहुत अधिक मिलती जुलती है। विष्णु, भागवत आदि कुछ ही पुराणों में ऐसे थोड़े से स्थल मिलते हैं, जिनकी भाषा का वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों की भाषा के साथ साम्य है। ऐसे स्थानों को श्रीधर आदि व्याख्याकारों ने अपवाद के रूप में माना है। कालिदास आदि कवियों की लौकिक संस्कृत के साथ पुराणों की भाषा की इस समानता को देख कर यह अनुमान होता है कि वर्तमान समय में उपलब्ध होने वाले इन सभी पुराणों के संशोधित संस्करण मुख्य रूप से प्रथम शती ई० पू० से पंचम शती तक के काल में रचे गये होंगे।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि केवल भाषासाम्य के आधार पर ही सम्प्रति उपलभ्यमान पुराणों का समय लौकिक संस्कृत के उन्नायक कालिदास आदि कवियों के ही समकालीन क्यों समझा जाय? कतिपय पुराणों की भाषा तो वेद, ब्राह्मण और उपनिषदों से थोड़ी थोड़ी मिलती है और सभी पुराणों की भाषा का रामायण और महाभारत की भाषा के साथ बहुत अधिक सादृश्य है तो क्यों न इनका समय वैदिक काल या रामायण, महाभारत का काल माना जाय? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि काल निर्धारण के लिए केवल भाषा के साम्य एवं वैषम्य का परिशीलन ही पर्याप्त नहीं है। इस समय भी

संस्कृत का कोई निष्णात विद्वान् वानर पुराण नामक ऐसा पुराण लिख सकता है जिसमें जल को वाटर कहने वाली अंग्रेज जाति का वर्णन हो और अन्य पुराणों की भांति उसकी भाषा भी लौकिक संस्कृत के समीप दिखाई दे तो क्या इतने मात्र से यह पुराण प्राचीन समझा जा सकेगा ? इस कारण किसी ग्रन्थ के काल का निर्धारण करने के लिए जहां भाषा का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी होता है, वहां उस ग्रन्थ में पाई जाने वाली विषयवस्तु भी कसौटी बना करती है। प्रायः सभी पुराणों का सम्बन्ध किसी न किसी देवता के साथ जुड़ा हुआ है। विष्णु और भागवत पुराण का सम्बन्ध विष्णु के साथ है। शिव, ब्रह्म, अग्नि, वायु और देवीभागवत आदि पुराणों का सम्बन्ध भी इनसे सम्बद्ध देवताओं के साथ है। प्रथम शताब्दी ई० पू० से लेकर पंचम शताब्दी तक भारतवर्ष में भक्तिसंस्कृति पल्लवित हुई थी, जिसके कारण शैव वैष्णव आदि सम्प्रदायों का जन्म हुआ। गुप्तकाल में भागवत सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रचलित था। गुप्तवंशीय सम्राट् अपने आपको परमभागवत कहा करते थे। शिवपुराण में शिव देवता को उत्कृष्ट बताया गया है तो भागवतपुराण में विष्णु का गुणगान है और मार्कण्डेय और देवीभागवत में देवी का। यह ऐतिहासिक सत्य है कि गुप्तकाल में ही भक्ति संस्कृति का विशेष रूप से विकास हुआ था। इसका प्रभाव इन सब पुराणों पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। विभिन्न देवताओं के विभिन्न रूपों की सर्वाङ्गीण कल्पना ईसा की प्रथम शताब्दी से पहले के साहित्य में देखने में नहीं आती। विष्णु आदि देवताओं का यह दिव्य और अलौकिक स्वरूप भक्तिकाल की ही विशेषता है। इसलिए वर्तमान समय में दृष्टिगोचर होने वाला पुराणों का स्वरूप इसी भक्ति संस्कृति की लहर से अनुप्राणित होकर अपने इसी रूप में आविर्भूत हुआ था, ऐसा प्रतीत होता है।

परन्तु इन पुराणों का यह स्वरूप विशेष रूप से प्रथम ई० पू० से लेकर पंचम शती तक निर्मित हुआ था, ऐसा कहने से यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि इस समय से पहले पुराण साहित्य का अस्तित्व ही न था। यहां इस कथन से इतना मात्र तात्पर्य है कि आजकल पुराणों के जो संस्करण हमें उपलब्ध होते हैं, उनका इसी रूप में लिपीकरण इसी समय में किया गया था। वस्तुतः प्राचीनतम ग्रन्थों में आये हुए पुराण साहित्य विषयक संकेतों से तो यही ज्ञात होता है कि पुराण साहित्य समय में किसी न किसी रूप में विद्यमान था। अथर्ववेद के एक मन्त्र से ज्ञात होता है कि पुराण साहित्य का निर्माण भी वेदों के साथ ही हुआ था।[1]

इस संकेत से यह प्रमाणित होता है कि पुराणसाहित्य वेदों के समय में या उनसे कुछ समय पूर्व भी विद्यमान था। रामायण और महाभारत में भी पुराण शब्द आया है[२]। इससे भी यह प्रतीत होता है कि इन दोनों महाकाव्यों के समय भी यह साहित्य विद्यमान था।

वस्तुत: वर्तमान समय में पाये जाने वाले इन पुराणों का निर्माण किसी एक ही विद्वान् ने किसी एक ही समय में नहीं किया। इन पुराणों में विष्णु, मार्कण्डेय और भागवत जैसे कुछ पुराण तो पृथक् पृथक् किसी एक ही रचयिता द्वारा किसी एक ही समय में लिखे गये प्रतीत होते हैं, परन्तु अग्निपुराण जैसे बहुत से ग्रन्थों के विभिन्न भाग विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न कालों तथा विभिन्न देशों में रचे गये। यह प्रतीत होता है कि प्राचीन समय में जैसे वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि शास्त्र गुरुपरम्परा से सुने जाते थे और उनका लिखित रूप में पठन पाठन नहीं होता था। इसी प्रकार पुराणसाहित्य भी श्रुतिपरम्परा से सुना जाता था। इसी कारण श्रवणभेद से यजुर्वेद के भी दो भिन्न पाठ अर्थात् एक ही ग्रंथ के दो भिन्न संस्करण शुक्लयजुर्वेद और कृष्णयजुर्वेद के रूप में मिलते हैं। अपौरुषेय माने जाने के कारण वेदों के प्रति तो भारतीयों की अगाध श्रद्धा थी। अतः उनको ज्यों का त्यों सुरक्षित रखने के लिए पदपाठ घनपाठ आदि साधन अपनाये गये, परन्तु पुराणों को इतना अधिक महत्त्व प्राप्त न था। इसी कारण वेदों के पाठ अर्थात् संस्करणों में तो बहुत कम परिवर्तन हुआ, परन्तु पुराणों की भाषा, विषयप्रतिपादन शैली और वर्ण्यविषयों में देश काल और पात्र के भेद से कभी थोड़े और कभी बहुत अधिक परिवर्तन होते रहे। समय २ पर उनमें कभी कुछ नवीन सामग्री जोड़ी जाती रही और कुछ पुरानी सामग्री उनमें से निकाली जाती रही। यही कारण है कि पुराणों के कुछ विषय प्राचीनतम हैं। पुराणों में विद्यमान उर्वशी और पुरूरवा की प्रेमगाथा का स्रोत अत्यधिक पुराना है और भविष्यपुराण के सारे विषय अर्वाचीनतम हैं।

विभिन्न कालों में पुराणों के अनेक संस्करण तैयार किये गए—इस प्रकार के संकेत अनेक पुराणों में उपलब्ध होते हैं। हरिवंशपुराण और पद्मपुराण के "शृणुष्वादिपुराणेभ्यो देवताभ्यो यथाश्रुत:"[३] इन श्लोकों में आदिपुराण शब्द का प्रयोग हुआ है। भविष्यपुराण के प्रतिसर्गपर्व में विक्रमादित्य राजा के समय में नैमिषारण्य में विद्वत्सम्मेलन होगा और वहां अष्टादश पुराण और उपपुराण पुनरुक्त होंगे, ऐसा बताया गया है।[४]

उपरिलिखित आदिपुराण शब्द से प्राचीन समय में आदि पुराण के विद्यमान होने की सम्भावना को बल मिलता है और भविष्यपुराण के इस पुनरुक्त शब्द से स्पष्ट रूप में यह ज्ञात होता है कि ये पुराण नामक ग्रंथ श्रुतिपरम्परा से सुने जाते थे। ये एक बार सुने जाने पर भी फिर नये सिरे से विशेष विशेष अवसरों पर पुनरुक्त हुआ करते थे। इस पुनरुक्ति अर्थात् पुनः कथन के समय अवसर और आवश्यकता के अनुरूप कुछ बातें बढ़ा दी जाती थीं और जो अनुपयोगी प्रतीत होती थीं वे निकाल दी जाती थीं। इस प्रकार का अनुमान युक्तिविरुद्ध नहीं है। यह पुनरुक्ति ही उन ग्रंथों का नवीन संस्करण करा दिया करती थी। जब पुराणों का बार बार कथन होता था तो उनमें बार बार परिवर्तन और परिवर्धन भी हो जाया करता था। इसी प्रकार विष्णुपुराण के श्लोक में मूल-संहिता शब्द का प्रयोग हुआ है।[५]

इस शब्द से मूलभूत अर्थ को बताने वाले आदिमपुराण के अस्तित्व की प्रतीति होती है, परन्तु इस मूलसंहिता की सर्वप्रथम रचना कब हुई, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कतिपय पुराणों में कहा गया है कि सब शास्त्रों—यहां तक कि वेदों से भी पहले पुराणों की रचना हुई है।[६] पुराणों को सब से अधिक प्राचीन बताने वाले ये वाक्य या तो अर्थवाद वाक्य हैं और इस साहित्य का महत्त्व बढ़ाने के लिए प्रयुक्त अतिशयोक्ति से भरे हुए वचन हैं अथवा पुराणों की विषयवस्तु अत्यधिक पुरानी है इस बात के सूचक हैं या आदिमपुराण सचमुच ही वेदों से पूर्ववर्ती हैं, इस अर्थ को बताते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के साथ ही पुराण भी रचे गये, यह बात अथर्ववेद में कही गई है इससे इस साहित्य का अस्तित्व वैदिक युग में निश्चित रूप से था ऐसा प्रतीत होता है। पार्जिटर ने मूलपुराण की रचना के विषय में बताया है कि या तो वह वैदिक साहित्य के विकसित हो जाने पर रचा गया था अथवा उस समय वैदिक साहित्य का विकास होना आरम्भ ही हुआ था[७]। यह पुराण आरम्भ में एक ही था यह बात इन कतिपय प्रमाणों से ज्ञात होती है—अथर्ववेद में पुराण शब्द का एक वचन में प्रयोग हुआ है[८]। महाभारत के "विद्वद्भिः कथ्यते लोके पुराणे कविसत्तमैः" इस वाक्य में भी पुराण शब्द का एक वचन में प्रयोग हुआ है[९]। मत्स्यपुराण तथा शिवपुराण में आये हुए "पुराणमेकमेवासीदस्मिन् कल्पान्तरेऽनघ" इस वाक्य के अन्तःसाक्ष्य से एक ही पुराण की सत्ता प्रतीत होती है[१०]। इस आदिम पुराण की थोड़ी या अधिक सामग्री को लेकर उसके साथ दूसरे अनेकविध विषयों को जोड़कर अठारह पुराण

पृथक् बनाये गये होंगे, इस बात का अनुमान किया जा सकता है। पुराणों में वर्णित भारतवर्ष, नदी, पर्वत तथा विविध प्रान्तों का वर्णन एक जैसा मिलता है, उससे यही ज्ञात होता है कि इन स्थलों का मूल स्रोत कोई एक ही रहा होगा।

प्रो० शिवदत्त ज्ञानी ने अपने "पुराणों के रचना काल[११]" शीर्षक लेख में यह मत स्थापित किया है कि आरम्भ में पुराण एक था और उसका स्वरूप आख्यानात्मक था। उसके बाद उसके स्वरूप में जब वृद्धि हुई तो उसके दो भाग हो गए। पहले भाग में महाभारत से पूर्ववर्ती राजाओं के जीवन चरित तथा प्राचीन आख्यानों का सङ्कलन था तथा दूसरे भाग में महाभारत से उत्तरवर्ती राजाओं की वंशावली और जीवनवृत्त का संग्रह था। तदनन्तर जब पुराणसाहित्य में मन्वन्तर आदि कुछ और विषयों को जोड़ दिया गया, तब यही पुराण सर्गादि पंचलक्षणात्मक[१२] स्वरूप को प्राप्त हुआ। अन्त में जब गुप्तकाल में पुराणों का अग्नि, विष्णु, मार्कण्डेय भागवत आदि अठारह भागों में पृथक्-पृथक् विभाजन हो गया और उनमें साम्प्रदायिक देवताओं के स्तोत्रादि तथा काव्यशास्त्र व्याकरणादि विषयों का समावेश हो गया तो उनका लक्षण दशलक्षणात्मक[१३] या विश्वकोशरूपात्मक हो गया। इस प्रकार उन्होंने पुराण-साहित्य का इन चार अवस्थाओं में क्रमिक विकास दिखाया है। वैदिक काल से लेकर महाभारतकाल तक की पहली अवस्था का नाम आख्यानावस्था तथा महाभारतकाल से ५०० ई० पू० तक पुराणविभाजनावस्था या भविष्यवंशावल्यवस्था है। ५०० ई० पू० से ईसा की प्रथम शताब्दी तक पंचलक्षणावस्था तथा प्रथम शताब्दी से सप्तम शताब्दी तक साम्प्रदायिकी या विश्वकोशरूपात्मिकावस्था मानी है। पुराणों की इस अन्तिम अवस्था का समय नवम शताब्दी तक भी माना जा सकता है। इस अवस्था में अग्नि गरुड़ आदि पुराणों में ज्योतिष, व्याकरण, अलङ्कारशास्त्र छन्दःशास्त्रादि विविध विषय तत्कालीन ग्रन्थों से लेकर समाविष्ट किये गये हैं।

मत्स्यपुराण में महाभारतकालवर्ती व्यास ऋषि को अष्टादशपुराण और महाभारत ग्रन्थ का रचयिता बताया गया है।[१४]

भागवतपुराण में कहा गया हैं कि व्यास ने भागवतपुराण को लिख कर उसे अपने पुत्र शुकदेव को पढ़ाया था[१५]। विष्णुपुराण के अनुसार पुराणविद्याविशारद व्यास ने आख्यानादि से संवलित पुराणसंहिता का निर्माण किया और उसे लोमहर्षण नाम के शिष्य को दिया। इस लोमहर्षण के सुमति, अग्निवर्च,

मित्रयु, शांसपायन, अकृतव्रण, और सावर्णि नामक छः शिष्य थे। इन शिष्यों में से अकृतव्रण, सावर्णि और शांसपायन नामक तीन शिष्यों ने लोमहर्षिणी मूलसंहिता के आधार पर तीन संहितायें बनाईं[१६]। इस प्रकार विष्णुपुराण के पुराणों की मूलसंहिताओं का निर्माण तो व्यास ने ही किया, परन्तु उसके बाद तीन संहितायें उसके शिष्यों ने बनाईं—इस कथन से इस पुराण में पुराणों की अनेककर्तृकता की स्वीकारोक्ति है।

संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ में व्यास शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ विभाग-कर्त्ता या संग्रहकर्त्ता बताया गया है[१७]। आप्टेकृतकोश में भी यही दो अर्थ हैं। वहाँ भारतमंजरी के एक उद्धरण को दिखाकर व्यास को वेदों का भी सम्पादक बताया गया है।[१८]

इस प्रकार एक व्यास महाभारत और पुराणों के कर्त्ता बताये गये हैं और दूसरे को वेदों का सम्पादक बताया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि वैदिककाल से लेकर नवम शताब्दी तक अनेक व्यास हुए और उन्होंने समय समय पर वेदों, महाभारत तथा अठारह पुराणों का सम्पादन किया।

अनेक व्यासों के अस्तित्व को पुष्ट करने वाले अनेक प्रमाण विष्णुपुराण में भी देखे जाते हैं। पराशर मैत्रेय को इस प्रकार कहते हैं—प्रत्येक द्वापर में भगवान् विष्णु व्यास रूप में अवतीर्ण होकर वेद का विभाजन करते हैं। इसी कारण उनकी "वेदव्यास" यह संज्ञा होती है। इन व्यास नामक महर्षियों ने वेदों का अलग अलग सम्पादन अट्ठाइस बार किया है। इन व्यासों में सब से पहले व्यास ब्रह्मा और अन्तिम पराशरपुत्र कृष्णद्वैपायन हैं। ये अट्ठाइस व्यास प्राचीन हैं। अगले द्वापर में द्रोण का पुत्र अश्वत्थामा अट्ठाइसवां व्यास होगा, इस प्रकार की भविष्यवाणी की गई है[१९]।

वस्तुतः वेदादि ग्रन्थों के सम्पादन का यह बृहत्कार्य एक ही विद्वान् के द्वारा सम्पन्न नहीं हो सकता। अठारह पुराणों की श्लोक संख्या लगभग चार लाख है। महाभारत और चारों वेदों का कलेवर भी अत्यन्त विशाल है। महाभारत और पुराणों में प्राचीन और अर्वाचीन दोनों प्रकार की सामग्री उपलब्ध होती है, साथ ही भाषा की विविधता भी दिखाई देती है। इससे महाभारत और पुराण विभिन्न विद्वानों द्वारा अनेक कालों में सम्पादित किये गये हैं, ऐसा प्रतीत होता है। महाभारत से पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती विद्वानों ने भी व्यास की संज्ञा प्राप्त की थी। इन सारे व्यासों में महाभारतकालवर्ती कृष्णद्वैपायन व्यास मूर्धन्य हुए यह बात भागवतपुराण की "द्वैपायनोऽस्मि व्यासानाम्[२०]" इस

उक्ति से ज्ञात होती है। इससे यह भी विदित होता है कि व्यासों की संख्या अनेक है। जैसे रघुकुल से सम्बद्ध वसिष्ठ और विश्वामित्र ऋषि अनेक थे, उसी प्रकार व्यास नाम के भी अनेक ऋषि हुए थे। वसिष्ठ यह उपाधि रघुकुल के कुलपुरोहित के लिए प्रयुक्त होती थी और विश्वामित्र कुलगुरु के लिए। दिलीप और सुदक्षिणा अपत्यप्राप्ति के लिए गुरु वसिष्ठ के आश्रम में गए थे और इस घटना से कई पीढ़ियों बाद उत्पन्न राम और सीता को राज्याभिषेक के अवसर पर आशीर्वाद देने वाले भी वसिष्ठ मुनि थे। इसी वंश के प्राचीन राजा हरिश्चन्द्र से सारा राज्य गुरुदक्षिणा में माँगने वाले ऋषि का नाम विश्वामित्र था और इससे बहुत समय बाद राम और लक्ष्मण को धनुर्विद्या सिखाने वाले ऋषि को भी विश्वामित्र ही कहा जाता है। अब प्रश्न उपस्थित होता है कि पुराणों के प्रसङ्ग में कुरुक्षेत्र के द्वाबे में रहने वाले कृष्णद्वैपायन का नाम ही क्यों लिया जाता है? कृष्णद्वैपायन व्यास को अत्यधिक गौरव प्रदान करने का एक यह कारण समझ में आता है—महाभारत युद्ध में जब द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्म जैसे बड़े बड़े विद्वान् काल के ग्रास बन गये तो अवशिष्ट विद्याओं की किस प्रकार रक्षा की जाये? यह प्रश्न विद्वानों के सामने ज्वलन्त रूप में उपस्थित हो गया था। यह महान् कार्य उस समय कृष्णद्वैपायन ने अनेक विद्वानों की सहायता से पूरा किया था। यदि उस स्थिति में कृष्णद्वैपायन भारतवर्ष में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई सारी विद्याओं को अठारह पुराणों के रूप में संगृहीत न करते तो इन अमूल्य ग्रन्थरत्नों का भारतवर्ष से समूलोच्छेद हो जाता। सम्भवतः इसी कारण कृष्णद्वैपायन व्यास को अठारह पुराणों के रचयिता होने का गौरवास्पद स्थान दिया जाता है। इन पुराणों में संशोधन और परिवर्धन महाभारतोत्तरवर्ती समय में भी हुआ। वर्तमान पुराणों के संस्करणों में महाभारत से उत्तरकालवर्ती राजाओं के वंशावली भाग, साम्प्रदायिक तथा काव्य, व्याकरणादि अनेक विषय महाभारत से पश्चाद्वर्ती प्रतीत होते हैं। इन अंशों को महाभारत काल के बाद व्यास नामक प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध बहुत सारे विद्वानों ने संशोधित या परिवर्धित करके मिला दिया था।

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वैदिककाल से लेकर अर्वाचीनकाल के मध्य में इन पुराणों के अनेक संस्करण हुए हैं और इन विभिन्न संस्करणों का सम्पादन करने वाले भी बहुत सारे विद्वान् हुए हैं, जिन में से किन्हीं को तो व्यास की पदवी मिली थी और किन्हीं को नहीं एवं इन व्यासों में कृष्णद्वैपायन व्यास शिरोमणि हैं, इसी कारण उनके नाम के साथ ही

पुराणों का विशेष सम्बन्ध जोड़ दिया गया है ऐसा कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

—:०:—

(१) ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

अथर्ववेद ११, ७, २४

(२) रामायण ४, ६२, ३; महाभारत १, ५, १-२

(३) हरिवंशपुराण ३, ७, ११; पद्मपुराण १, ३३, ११

(४) पुनर्विक्रमभूपेन भविष्यति समाह्वयः।
नैमिषारण्यमासाद्य श्रावयिष्यति वै कथाम्॥
पुनरुक्तानि यान्येव पुराणाष्टादशानि वै।
तानि चोपपुराणानि भविष्यन्ति कलौ युगे॥

भविष्यपुराण ३, ४, ३-५

(५) काश्यपः संहिताकर्त्ता सावर्णिश्शांसपायनः।
रोमहर्षणिका चान्या तिसृणां मूलसंहिता॥

विष्णुपुराण ३, ६, १८

(६) प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः॥

वायुपुराण १, २०३; ब्रह्माण्डपुराण १, ५८; मत्स्यपुराण ५३, ३

(७) Pargiter: Ancient Indian Historical Tradition pp. ३०, ५४.

(८) अथर्ववेद ११, ७, २४

(९) महाभारत १, २, ४०

(१०) मत्स्यपुराण ५३, ४; शिवपुराण १, २३, ३०

(११) V. S. Agrawal: Purana (S. D. Gyani: The date of the Puranas) July १९६० Vol. II nos. १-२

(१२) मार्कण्डेयपुराण १३४, १३

(१३) भागवतपुराण १२, ७, ८-९

(१४) अष्टादशपुराणानि कृत्वा सरस्वतीसुतः ।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम् ॥

मत्स्यपुराण ५३, ६८

(१५) भागवतपुराण १, ७, ८

(१६) विष्णुपुराण ३, ६, १५-१८

(१७) संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ पृ० १०८१ सम्पादक द्वारकानाथ चतुर्वेदी द्वितीय संस्करण सन् १९५७

(१८) विव्यास वेदान् यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः ।
व्यस्य वेदान् समस्तांश्च व्यासतामगमद् विभुः ॥

भारतमंजरी १, २१४

आप्टेकोश (संस्कृत हिन्दी) के अन्तर्गत 'व' वर्ण का विभाग

(१९) विष्णुपुराण ३, ३, ५-१८

(२०) भागवतपुराण ११, १६, २

—:०:—

उत्कृष्ट नाटक में विभिन्न तत्त्वों की सामूहिक पूर्णता

नाटक रसप्रधान हुआ करते हैं। कवि अपनी कवित्व शक्ति से नाटक के कथानक को रोचक बना देता है। उसका प्रमुख उद्देश्य प्रेक्षकों के हृदय में किसी रसविशेष का सञ्चार कराना होता है। जिस नाटक को देखकर सामाजिक अपने हृदय में रसानुभूति करता हुआ आनन्द विभोर हो जाता है वही उत्तम नाटक है। जब सामाजिकनिष्ठ रत्यादिस्थायिभाव के साथ विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों का संयोग होता है तब सामाजिक के हृदय में रस का सञ्चार होता है। अभिनय के समय रङ्गमञ्च पर दिखाई पड़ने वाले राम और सीता आलम्बनविभाव तथा चन्द्र, चन्दन, कोकिलालाप, भ्रमर, झङ्कार एवं आलम्बन की चेष्टायें उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। आलम्बन तथा उसकी चेष्टाओं को देखने के अनन्तर नायक अथवा नायिका की ओर से प्रतिक्रिया स्वरूप हानेवाली (कटाक्षविक्षेप, एक दूसरे की ओर टकटकी लगाकर देखना, वक्षः-स्थल तथा भुजाओं को हिलाना, डुलाना आदि तात्कालिक) चेष्टायें अनुभाव कहलाती हैं। आलम्बन एवं आश्रयभूत नायक नायिकाओं के हृदय के बीच बीच में अस्थायी रूप से आने वाले हर्ष और शङ्कादिभाव व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं। किसी कथाविशेष के साथ जुड़े हुए इन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की समष्टि को विषयवस्तु कहा जाता है। वही नाटक सफल होता है जिसमें विषयवस्तु अर्थात् नायक, नायिका, विदूषकादि का चरित्र चित्रण कलात्मक, रोचक एवं रसानुकूल हो। विभिन्न अनुकार्य रामादि पात्रों के अनुकर्ता नट और नटी भी नाट्य नियमों के मर्मज्ञ तथा अभिनय में दक्ष हों और सामाजिकों के हृदयों को अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ हों। इसी प्रकार रस के आस्वादक सामाजिक का हृदय भी वासना अर्थात् रस को ग्रहण करने की क्षमता वाले संस्कार विशेषों से वासित होना चाहिए। जिस नाटक में जितने सुन्दर रूप से रस का परिपाक अथवा अभिव्यक्ति होती है वह उतना ही सफल माना जाता है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब नाटक के विषयवस्तु आदि सभी तत्त्वों में सामूहिक पूर्णता पाई जाय। सामूहिक पूर्णता शब्द का यहाँ यह अभिप्राय है कि विषयवस्तु, नट, सामाजिक और कवि इन चार तत्त्वों में से प्रत्येक में पहले व्यक्तिगत रूप से अधिक से अधिक पूर्णता एवं निर्दोषता हो (यह

विशेषता प्रयत्न पूर्वक चुन चुन कर निकाले हुए दोषों को हटाने से आती है) और फिर इन चारों इकाइयों से मिलकर बना सारा समूह भी अपने आप में पूर्ण हो। यह समूहगत पूर्णता तभी आती है जब दोष विरहित इन सभी तत्त्वों का अपना अपना योगदान न्यूनाधिक न होकर यथोचित मात्रा में हो। जैसे किसी भी परीक्षा के सभी पत्रों में से प्रत्येक पत्र में अलग अलग अधिकाधिक अङ्क प्राप्त करके प्रथम श्रेणी आती है और एक भी पत्र के खराब हो जाने से प्रथम कक्षा रह जाती है, उसी प्रकार नाटक में भी जब सभी वस्तुओं का उचित मात्रा में चित्रण होता है और प्रत्येक की मात्रा में न्यूनाधिकता नहीं होती तभी नाटक सफल और लोकप्रिय होता है। उदाहरण के लिए यदि किसी नाटक का नायक कुलीन और उदात्त चरित्र न होकर किसी विदूषक की भाँति बात बात पर हँसने हँसाने वाला है और स्वकीया को छोड़कर परकीया पर अनुरक्त है तो वहां शृङ्गार रस न होकर शृङ्गाराभास होगा। इस कारन कवि को नाटक में अलग अलग तत्त्वों की पूर्णता के साथ साथ सभी तत्त्वों में सामूहिक पूर्णता लाने के लिए उनका समुचित रीति से समावेश करने का यत्न करना चाहिए। आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार चर्चा में यह बताया है कि रसास्वाद में सबसे बड़ा विघातक तत्त्व अनौचित्य है और रस का सबसे बड़ा रहस्य औचित्य का निर्वाह होता है।[1] संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि नाटक की रचना करते समय यह परम आवश्यक है कि उपर्युक्त चारों तत्त्वों में से प्रत्येक के पृथक् पृथक् महत्त्व तथा इनके सामूहिक योगदान की ओर ध्यान देना चाहिए।

यद्यपि अनेक कवि तथा आचार्य भिन्न भिन्न तत्त्वों को अपनी भावुकता में आकर बहुत अधिक महत्त्व देते रहे हैं परन्तु इससे इतना ही समझना चाहिए कि वे वहाँ पर काव्य में अमुक अमुक वस्तु का गौरव बताने के लिए ही ऐसा प्रयोग कर रहे हैं। इस प्रकार के अतिगौरव सूचक प्रशंसात्मक वाक्यों को संस्कृत में अर्थवादवाक्य कहा जाता है जैसे गुरु के प्रति अत्यन्त भक्ति उत्पन्न करने के लिए—

"गुरुर्ब्रह्मा गुरु र्विष्णु र्गुरुः साक्षान्महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥"

इस प्रकार कहकर गुरु में सारे देवताओं का निवास बतला दिया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं होता कि गुरु के अतिरिक्त अन्य माता पिता आदि को नमस्कार न किया जाय अथवा अन्य देवताओं की भी उपासना न की जाय। अन्य देवताओं का भी महत्त्व है और माता पिता का भी गौरव है परन्तु यदि

गुरु के महत्त्व को बताते समय उनके महत्त्व को भी बताया जाय तो गुरु के प्रति अत्यन्त श्रद्धा भावजागरित होने में बड़ी कठिनाई होगी। सत्यभाषण की प्रवृत्ति जगाने के लिए 'नास्ति सत्यात् परो धर्मः' कहा जाता है तो अहिंसा के प्रति आदर बढ़ाने के लिए 'अहिंसा परमो धर्मः' बोला जाता है। ऐसे स्थलों पर एक समय में एक ही की महत्ता को बताना वक्ता का उद्देश्य होता है। इस कारण जैसे घड़े के निर्माण में दण्ड, चक्र, मृत्पिण्ड, कुलाल, देशकाल आदि सभी वस्तुओं का यथोचित अनुपात में योग होता है उसी प्रकार उत्तम नाटक की रचना में विषय वस्तु, सामाजिक, नट और कवि का योगदान रहता है।

१. विषय वस्तु की व्यष्टि रूप में पूर्णता एवं सीमा

इसमें सन्देह नहीं कि नाटक की विषय वस्तु अत्यन्त आकर्षक होनी चाहिए। अनेक मनीषियों ने भी कथानक के वैचित्र्य अथवा नायक की उदात्तता पर बहुत बल दिया है। मालतीमाधव में महाकवि भवभूति ने कहा है—'नाटक की कथावस्तु यदि अपूर्व अर्थात् अद्भुत तथा बेजोड़ हो तो उससे सहृदयों का मनोरञ्जन उत्तम रीति से हो सकता है। इस कारण नाटक की कथा में रस का समुचित समावेश तथा पात्रों की चेष्टायें हृदयाकर्षक होनीं चाहिए। प्रति-नायक के उद्धत स्वभाव को दिखाते हुए अन्य पात्रों की कामचेष्टाओं को दिखाना चाहिए। उपकथाओं में वैचित्र्य हो तथा उन कथाओं में वाग्वैदग्ध्य अर्थात् वाणी की चतुराई भी होनी चाहिए।[२] परन्तु यहाँ कवि ने नाटक के भीतर वाग्वैदग्ध्य को भी आवश्यक तत्त्व मानकर कवि के महत्त्व को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है। नाटक की कथा सामाजिक के सामने तभी सुन्दर रूप में आ सकती है जब कवि ने उसमें उत्तम कोटि के संवाद तथा भावप्रवण सूक्तियां रखी हुई हों।

उत्तररामचरित में भवभूति ने सूत्रधार के मुख से अपनी प्रशंसा में 'यह कवि व्याकरण, मीमांसा तथा न्याय का पण्डित है और सरस्वती इसके संकेत पर दासी की भाँति नाचती है अर्थात् इसके पास शब्दों का अपार भण्डार है इसलिए इनके नाटक का अभिनय अच्छा ही होगा ऐसा कहलाकर कवि के महत्त्व को भी स्वीकार किया है।[३]

महाकवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य को आरम्भ करते समय पहले अपने को मूर्ख बताया है और इसके अनन्तर काव्य लिखने का कारण यह बताया है कि रघुकुल के आजन्म शुद्ध चरित्र वाले दिलीप, रघु तथा राम जैसे उज्ज्वल नायकों के गुणों ने मेरे कान में आकर काव्य लिखने को कहा है[४]। यहाँ

भी कवि ने रघुवंश के नायकों को भावुकतावश अधिक महत्त्व दे दिया है। और अपनी निरभिमानिता सूचित करते हुए अपने को मूर्ख कहा है। पर वस्तुतः ऐसी कौन सी बात थी कि रघुवंश के उत्तम लोगों के गुण कालिदास के ही कानों में पड़े और उन्होंने काव्य लिख दिया। वस्तुतः इनको सुनते तो और भी हैं परन्तु वह अपने भीतर कवित्त्व शक्ति न होने के कारण अच्छी रचना नहीं कर सकते। कालिदास जैसे कवि ही इस प्रकार को कृतियों का निर्माण कर पाते हैं।

इसी प्रकार रामचरितमानस के अमर कवि तुलसीदास भी अपनी रचना के उत्तम होने का सारा श्रेय लोकोत्तर नायक भगवान् राम को ही देते हैं—

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी।[५]

उनका कहना है कि इस मेरी रचना में रामचन्द्र जी का नाम बड़ा विशाल, अत्यन्त पवित्र तथा वेद पुराण का सारभूत है। मैंने यहाँ संसार के लिए मंगल-कारिणी रामकथा रूप भली कथावस्तु का वर्णन कर दिया है। यद्यपि मेरी अपनी कविता बड़ी भद्दी है परन्तु कथा के उत्तम होने से यह भी अच्छी ही समझी जायेगी। यहाँ कवि ने अपनी विनम्रता का ही प्रदर्शन किया है अन्यथा यदि तुलसी की कविता वास्तव में भद्दी ही होती तो आज देश विदेश में तुलसी और राम का इतना गुणगान नहीं होता। यही बात कविवर मैथिलीशरण गुप्त द्वारा साकेत में कही हुई इस उक्ति पर भी लागू होती है कि 'राम तुम्हारा चरित स्वयं एक काव्य है। कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।'[६] राम का चरित तो भारतवर्ष के इतिहास में सभी को पढ़ाया जाता है परन्तु क्या सभी इतिहासविद् रामकथा पढ़कर कवि बन सकते हैं? इसी प्रकार सरस्वती कण्ठा-भरण में आचार्य भोज ने यह कहा है कि यदि अलौकिक गुणों से विभूषित नायक का काव्य में वर्णन हो तो कवि की वाणी का थोड़ा सा चमत्कार भी विद्वानों के कानों का आभूषण बन जाता है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि कवि की साधारण रचना वासनाशून्य सामाजिकों को रसास्वाद कराने का सामर्थ्य नहीं रखती, सहृदयों को ही थोड़ा बहुत आनन्द मिल सकता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नाटक की विषय वस्तु उत्तम कोटि की होनी चाहिए। कोई कवि अपनी रचना में कितनी ही विलक्षण मानसिक कल्पना करे परन्तु उसके नायक और नायिकाओं में उदात्त चरित्र होना चाहिए। यदि उसके पात्र चन्द्रकान्तासन्तति के पात्रों के समान काल्पनिक एवं कौतूहलवर्धक ही

रहें और कोई बड़े महत्त्व का कार्य न करके केवल परीलोक की ही बातें बतायें तो वे साधारण कोटि के सामाजिक को तो सन्तुष्ट कर सकते हैं परन्तु उनसे परिपक्व बुद्धि वाले सामाजिक को सन्तुष्टि नहीं होती। इस कारण उत्तम काव्य अथवा नाटक में विषय वस्तु की पूर्णता अनिवार्य रूप से अपेक्षित है परन्तु यह विषयवस्तु भी समकालीन सामाजिक की रुचि के अनुकूल होनी चाहिए। भवभूति के समय में विद्यमान सामाजिक को तो ब्राह्मण पुत्र को जिलाने के लिए निरपराध शूद्र की हत्या करके वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रतिष्ठापक राम के प्रति आदर की भावना हो सकती थी परन्तु आज भी यदि नाटक में इसी प्रकार का दृश्य दिखाया जाय तो आजके प्रेक्षकों को वह पसन्द नहीं आयेगा। इस कारण कवि को जनरुचि का भी ध्यान रखना पड़ता है। आज जिन नवयुवकों में धार्मिक चलचित्रों के प्रति रुचि नहीं है, बहुत अच्छे होते हुए भी वे चित्र उन धार्मिक रुचिविहीन युवाओं को पूर्णतया आनन्दित करने में सफल नहीं हो पाते। इसके अतिरिक्त भले ही नायक का चरित्र कितना ही उदात्त एवं प्रशस्त हो परन्तु उसे प्रस्तुत करने वाले नट और नटी यदि मंजे हुए कलाकार नहीं हैं तो भी नाटक की सफलता सन्दिग्ध हो जाती है। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि उत्तम कथानक भी यदि काव्यप्रतिभाशून्य व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है तो वह नाटक केवल नीरस इतिहास बनकर रह जायगा। इसलिए विषयवस्तु के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों की भी पूर्णता उत्तम रचना में होनी चाहिए।

२. सामाजिक की व्यष्टि रूप में पूर्णता एवं सीमा—काव्य रस की स्थिति भूतकालवर्ती रामादि पात्रों में रहती है और वह सामाजिक के हृदय में नहीं है ऐसा प्राचीन समय में भट्टलोल्लट और श्रीशङ्कुक ने माना है। परन्तु इस मत का खण्डन पहले ही भट्टनायक और अभिनवगुप्ताचार्य कर चुके हैं। वस्तुतः रस की अनुभूति सामाजिक को ही होती है यह बात प्रत्यक्ष प्रमाण से ही ज्ञात हो जाती है। इसमें अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। परन्तु काव्य रस का आस्वादन तभी हो सकता है जब सामाजिक का हृदय काव्य को ग्रहण करने की क्षमता रखने वाले संस्कारों से युक्त हो। देखने में ऐसा आता है कि चिकित्सा, गणित, विज्ञान, भाषा विज्ञान तथा व्याकरण शास्त्र के मर्मज्ञ अधिकांश विद्वान् नाटकों को देखकर आनन्दमग्न नहीं हो पाते इसी प्रकार छोटे बच्चे या बहुत बूढ़े व्यक्तियों को भी काव्य या नाट्य के रस का आस्वाद नहीं हो पाता। इसका कारण यह है कि इन व्यक्तियों के हृदय में

काव्यास्वाद को ग्रहण करने की शक्ति न्यूनमात्रा में रहती है। कई विद्वान् इस प्रकार के व्यवसाय में होते हुए भी अपवाद रूप से सहृदय होते हैं। यदि नाटक को देखनेवाला व्यक्ति रसिक है तो उसे रसानुभूति हो जाती है। सहृदय सामाजिक का हृदय उस उत्तम खेत की भाँति है जिसमें मूर्ख किसान द्वारा बोये हुए बीज भी उग आते हैं। 'चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषि:' विशाखदत्त की इस उक्ति को दूसरे शब्दों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ऐसे कहा है—

उपजै आछे खेत में मूरखहू के धान।
सघन होन में धान के चहिए न गुणी किसान ।।[७]

इसी प्रकार यदि प्रेक्षक उत्तम कोटि के होते हैं तो काव्यप्रतिभाविहीन कवि का नीरस नाटक भी रसोत्पादन में समर्थ हो जाता है। मुद्राराक्षसकार विशाखदत्त ने काव्य के मर्म को समझने वाले सामाजिकों के सामने ही अपने नाटक का अभिनय करने में सन्तोष प्रकट किया है।[८] कालिदास ने भी बताया है कि किसी काव्य या नाटक की तब तक सफलता नहीं मानी जा सकती जब तक उससे काव्य मर्मज्ञ सामाजिकों को सन्तोष नहीं मिलता। अपनी विद्वत्ता पर भरोसा रखने वाले कवियों का हृदय भी अपनी रचना की सफलता के विषय में तब तक शङ्कित बना रहता है जब तक प्रेक्षक उसे पसन्द नहीं कर लेते।[९] भोज ने भी बताया है कि सहृदय सामाजिक कवि की रचना को उसी प्रकार अपने हृदय से लगा लेते हैं जैसे समुद्र से उत्पन्न मोतियों की माला को रमणियाँ अपने वक्ष पर धारण करती हैं।[१०] इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि रसास्वाद ग्रहण करने के लिए सामाजिक को भी पूर्ण रूप से रसिक होना चाहिए। दर्पण जितना स्वच्छ होता है उतना ही प्रतिबिम्ब स्पष्ट होता है। नाट्यव्यापार की प्रतिक्रिया रसिक सामाजिक के हृदय में ही भलीभाँति हो सकती है। परन्तु यदि नाटक की विषयवस्तु ही एकदम नीरस हो और अनुकर्त्ता नट भी दोषपूर्ण अभिनय कर रहे हों और कवि की प्रतिभा का भी कहीं कोई परिचय न मिल रहा हो तो रसिक सामाजिक भी कहाँ तक धैर्य रखेगा। जब तक कथानक के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों में सामूहिक पूर्णता नहीं होती तब तक उसे काव्य का आनन्द नहीं मिल सकेगा।

३. नट की व्यष्टि रूप में पूर्णता और सीमा—

दशरूपककार धनञ्जय ने बतलाया है कि उत्तम नट भी नाटक के रस का आस्वादन करता है।[११] परन्तु जिस समय वह रस का आनन्द ले रहा होता

है, हमारे समान ही सामाजिक होता है। परन्तु क्योंकि उसे अपनी सारी भूमिका भी उसी समय निभानी होती है और स्थान स्थान पर आगे कही जाने वाली बातों का भी ध्यान रहता है इसलिए वह पूर्णतया सामाजिक तो नहीं बन सकता परन्तु नाटक के बीच बीच में कहीं कहीं उसे भी रस आ रहा होता है। कविगत भावों या नाटक के विविध रामादि पात्रों का सामाजिक के साथ सम्बन्ध कराने में कवि का महत्त्वपूर्ण भाग होता है। यदि नट नाट्यकला में दक्ष होता है तो वह नाटक के दोषों को छिपाता हुआ अपनी कला से उसके गुणों को अधिक से अधिक प्रभावशाली रूप में प्रदर्शित करता है। नट जितना अधिक कार्यकुशल होगा उतने ही सुन्दर रूप में प्रेक्षकों के अनुकार्य रामादि पात्रों के साथ साधारणीकरण हो पायेगा। नाटक में नट के द्वारा शारीरिक चेष्टाओं, उच्चारित शब्दों, मानसिक भावों तथा वेशभूषादि इन कायिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य तत्त्वों की पूर्णता लाई जानी चाहिए। ऐसा होने पर ही नाटक में रसास्वाद को उत्पन्न करने का सामर्थ्य आ सकता है। रस की उपमा नीबूनिचोड़ के साथ दी जा सकती है। यदि नीबूनिचोड़ साफ सुथरा तथा अच्छे छिद्रों वाला होता है तो रस ठीक निकलता है और यदि वह गन्दा और बड़े छिद्रों वाला होगा तो रस भी मलिन निकलेगा। यदि छिद्र बहुत छोटे होंगे तो रस निकलेगा ही नहीं। इसी प्रकार यदि नट आवश्यकता से अधिक अभिनय (ओवर ऐक्टिंग) करता है तो भी रस दूषित हो जाता है और यदि अभिनय की अभिव्यक्ति दोषपूर्ण होती है तो भी रसास्वाद नहीं हो पाता। इस कारण नाटक में नट की दक्षता भी अपेक्षित है। राम का चरित्र भले ही कितना ही अधिक आकर्षक क्यों न हो परन्तु यदि वह रङ्गमञ्च पर बहुत भद्दे रूप में प्रस्तुत किया जाय तो वह अरुचिकर ही होगा। परन्तु यदि केवल नट ही सारे गुणों से युक्त हो और नाटक की कथा, अनुकार्य नायक तथा उनका चित्रण करने वाला कवि प्रतिभाशाली न हो तो भी नाटक में रस की अभिव्यक्ति नहीं हो पायेगी।

४. कवि की व्यष्टि रूप में पूर्णता एवं सीमा—

लोक से कुछ पात्रों को चुनकर कवि अपनी प्रतिभा के बल से उन्हें सजाकर और सँवार कर रखता है। वह उनमें अपनी कल्पना द्वारा रंग भर देता है और वह अलौकिक से बन जाते हैं। कवि इसी जगत् में से चलते फिरते पात्र लेकर उन्हें विभाव, अनुभाव आदि का रूप दे देता है और उनको आस्वाद योग्य बना देता है। भारतीय आचार्यों ने कवि को बहुत अधिक महत्त्व दे डाला है। दशरूपककार धनञ्जय ने कहा है कि देवी सरस्वती कभी कभी किसी ही

कवि पर दया करके उसके सामने किसी एक के विषय का रहस्य प्रकट कर देती है। इस प्रकार के रहस्य को प्राप्त करने के अनन्तर कवि ऐसा काव्य लिखने में समर्थ हो जाता है। जिसे पढ़कर दूसरे लोग विद्वान् हो जाते हैं।[१२] इससे ज्ञात होता है कि इस संसार में कवि बन जाना कोई आसान बात नहीं है। अग्निपुराण में कहा गया है कि इस संसार में मनुष्य जीवन पाना बहुत दुर्लभ है। मनुष्य जीवन पाकर भी विद्वान् होना बड़ा कठिन है विद्वान् होकर कवि बनना और भी कठिन कार्य है और कवित्व शक्ति (जन्मजात प्रतिभा) को प्राप्त कर लेना तो सबसे कठिन बात है।[१३] काव्य शक्ति केवल ऊँचे-ऊँचे ग्रन्थों के पढ़ने से नहीं उत्पन्न होती है वह तो हृदय के भावुक एवं प्रेम रस पगे होने पर ही आती है— 'इश्क को दिल में दे जगह नासिख इल्म से शायरी नहीं आती।'

अग्निपुराण में कहा है कि कवि ऐसा कारीगर है जो अपने काव्यजगत् में जैसी वस्तुएँ बनाना चाहता है वैसी बना डालता है और उन बनी वस्तुओं से जिस रस का आस्वाद कराना चाहता है उसी रस का सामाजिक को अनुभव हो जाता है यदि वह श्रृङ्गार रस में अभिरुचि रखता है तो अपने सभी पाठकों या प्रेक्षकों को श्रृङ्गार रस से आप्लावित कर देता है और यदि वह शान्त रस प्रेमी है तो सारे सामाजिक शान्त रस में डूब जाते हैं।[१४] ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धनाचार्य ने बताया है कि कवि चेतनों में अचेतन भाव और अचेतनों में चेतन भाव भर सकता है। इस संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं है जिसका चित्रण करके कवि अपने अभिमत रस की सृष्टि न कर सके।[१५] भवभूति ने सीता के विरह से दुःखी राम के शोक को देखकर पत्थरों को भी रुलाया है और वज्र के हृदय को भी टुकड़े-टुकड़े होता हुआ दिखाया है।[१६]

वस्तुतः रसास्वाद में विभावादियों और कथानक (=विषयवस्तु), कवि तथा सामाजिक इन सभी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बात भट्टनारायण के इस कथन से भी प्रमाणित हो जाता है—यह मेरा नाटक परिश्रम पूर्वक लिखा गया है, आप सामाजिक भी उत्कण्ठा वाले हैं, कथावस्तु भी उदात्त है और यह नाटक भी नवीनता लिए हुए है। इसलिए यह मेरा नाटक निश्चित रूप से सफल होगा।[१७] इसी प्रकार हर्षवर्धन ने रत्नावली में बताया है कि मैं श्रीहर्ष निपुण कवि हूँ। मेरे इस नाटक को देखने वाली यह सभा भी गुणों को ग्रहण करने वाली है इस संसार में वत्सराज उदयन का चरित्र भी अपनी ओर आकर्षित करने वाला है। और अभिनय करने वाले हम नट भी कुशल हैं। इन वस्तुओं में से एक एक वस्तु भी रसास्वाद में बहुत कुछ सहायक होती है

परन्तु यदि इन सभी तत्त्वों का एकत्र समावेश हो जाय तो फिर कहना ही क्या।[१८]

—:०:—

(१) अनौचित्यादृते नास्ति रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा॥

ध्वन्यालोक ३,१४ वृत्तिभाग में औचित्यविचारचर्चा से उद्धृत

(२) सूत्रधारः—आदिष्टोऽस्मि विद्वत्परिषदा यथा... अद्य त्वयाऽपूर्ववस्तुप्रयोगेण वयं विनोदयितव्या इति—

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च॥

मालतीमाधव १,४

(३) अस्ति खलु तत्र भवान् काश्यपः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः, पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूति र्नाम जतुकर्णीपुत्रः—यं ब्रह्माणमियं देवी वाग्वश्येवानुवर्तते। उत्तररामचरित प्रस्तावना १,१

(४) मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः॥
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।
तद्गुणैः कर्णमागत्य चापलाय प्रचोदितः॥

रघुवंश १,३;५;९

(५) रामचरित मानस १, ९, १;५
(६) साकेत प्रारम्भिक भाग
(७) मुद्राराक्षस हिन्दी अनुवाद (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत) १,३
(८) यत्सत्यं काव्य विशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति। मुद्राराक्षसनाटक प्रथम अङ्क प्रस्तावना
(९) अभिज्ञानशाकुन्तल प्रथम अङ्क प्रस्तावना भाग
(१०) शृङ्गार प्रकाश १,१२ गद्यभाग
(११) दशरूपक ४,४२

(१२) कस्यचिदेव कदाचिद्दयया विषयं सरस्वती विदुषः ।
घटयति कमपि तमन्यो व्रजति जनो येन वैदग्धीम् ।। वहीं १, ३

(१३) नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ।। अग्निपुराण ३३७, ३-४

(१४) अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स चेत्कविर्वीतरागो नीरसं व्यक्तमेव तत् ।।

अग्निपुराण ३३९, १०-११

(१५) ध्वन्यालोक ३, ४३ गद्यभाग

(१६) अपि ग्रावा रोदिति अपि च दलति वज्रस्य हृदयम् ।।

उत्तररामचरित १, २८

(१७) तदत्र कविपरिश्रमानुरोधाद् वा उदात्तकथावस्तुगौरवाद् वा नवनाटकदर्शन-कुतूहलाद् वा भवद्भिरवधानं दीयमानमभ्यर्थये ।

वेणीसंहार, १, ५ गद्यभाग

(१८) श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम् ।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयात्समुदितः सर्वो गुणानां गणः ।। रत्नावली १, ५

—:०:—

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में ध्वनि तत्त्व

कवि के कर्म (रचना) को काव्य कहते हैं। जब कवि के सुन्दर भाव भाषा द्वारा अभिव्यक्त होते हैं तो काव्य बन जाते हैं। काव्य अथवा कविता में शब्दों का एक विशेष प्रकार का विन्यास होता है साथ ही वहाँ कोई न कोई उदात्त भाव अन्तर्गभित होता है। काव्य में प्रयुक्त भाषा शैली हमारे द्वारा और हमसे मिलते जुलते लोगों के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों और इतिहास, पुराणादि के वचनों की शैली से भिन्न प्रकार की होती है। काव्य में अभिव्यक्त भाव भी विलक्षण होते हैं। इस तथ्य को किसी संस्कृत कवि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

यानेव शब्दान् वयमालपाम:
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखाम:।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
सम्मोहयन्ते कवयो जगन्ति ॥

वेदान्तियों ने मायोपहित ब्रह्म को इस जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बताया है। एक ही ब्रह्म इस नामरूपात्मक जगत् में अनेक रूपों में भासित होता है। वेदान्तियों के मायोपहित ब्रह्म की भाँति काव्यजगत् के प्रजापति कवि की प्रतिभा भी भाषा का आवरण ओढ़े हुए अनेक रूपों में दिखाई देता है। यह तथ्य आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा ध्वन्यालोक में उद्धृत निम्न पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥[1]

जैसे इस नामरूपात्मक संसार के समस्त पदार्थों का कलेवर पञ्चभूतों से बना है वैसे ही काव्यरूप कार्य का शरीर शब्द और अर्थ से बनता है। शब्द और अर्थ काव्य के बाह्य शरीर हैं और उनके अन्दर सूक्ष्म रूप से रहने वाले भाव शरीरी अर्थात् आत्मा हैं। इस प्रकार काव्य के मुख्य रूप से दो ही घटक तत्त्व हैं—१. भाषा और २. भाव। परन्तु जैसे संसार के दार्शनिकों में

आत्मा परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप के विषय में परस्पर मतभेद रहता आया है वैसे ही काव्य तत्त्वों के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है।

भारतीय दृष्टिकोण—काव्य में अलौकिक भावतत्त्व एवं भाषा तत्त्व की सत्ता रहती है। इन दोनों अथवा इन दोनों में से किसी एक तत्त्व से जो अपूर्व आनन्द का जनक चमत्कार होता है। उसे भारत के काव्यशास्त्रविद् आचार्यों ने अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, औचित्य, रस एवं ध्वनि इन नामों से पुकारा है। दण्डी और भामह के अनुसार अलङ्कार काव्य का मुख्यतम घटक तत्त्व है तो वामन और कुन्तक की दृष्टि में रीति और वक्रोक्ति। क्षेमेन्द्र और विश्वनाथ औचित्य और रस को काव्य में प्रधान स्थान देते हैं और आनन्दवर्धनाचार्य एवं आचार्य मम्मट ध्वनि को। वस्तुत: अलङ्कारादि सम्प्रदायों से सम्बद्ध भामहादि आचार्यों का दृष्टिकोण इतना संकुचित न था जितना कि बाद के टीकाकारों और व्याख्याकारों ने बना दिया है। इन आचार्यों की दृष्टि व्यापक थी। अलंकारवादी आचार्य यद्यपि प्रधानता अलङ्कारों को देते थे परन्तु उन्होंने रसवदादि अलङ्कारों को बताकर काव्य में रस की भी सत्ता स्वीकार की है। काव्य के घटक तत्त्वों में वह अलङ्कारों के साथ दूसरे रसादि तत्त्वों को नहीं मानते हैं ऐसी बात नहीं है। जिस आचार्य का जिस सम्प्रदाय से सम्बन्ध जोड़ा गया है वह आचार्य प्रधान रूप से उस (अलङ्कारादि) तत्त्व ही की स्थिति काव्य में होनी चाहिए ऐसा कहते हैं परन्तु गौण रूप से अन्य तत्त्वों के सह अस्तित्व में उन्हें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं हैं।

जैसे भारत के षड्दर्शनों में से प्रत्येक दर्शन में जगत् के तत्त्वों के विषय में सूक्ष्म रूप से विचार किया गया है और सारे विचारों की चरम परिणति वेदान्त दर्शन में उपलब्ध होती है वैसे ही हमारे यहाँ के उपर्युक्त इन छः सम्प्रदायों में से प्रत्येक में काव्य के घटक तत्त्वों के सम्बन्ध में अपने अपने ढंग से सोचा गया है परन्तु विचारों की अन्तिम परिणति ध्वनिसम्प्रदाय में देखने में आती है। ध्वनि सम्प्रदाय अपेक्षाकृत अधिक निर्भ्रान्त एवं व्यापक है। अन्य सभी सम्प्रदायों का समाहार अथवा अन्तर्भाव इसी में हो जाता है। भारतीय काव्यशास्त्रपरम्परा में उल्लेख तो सभी सम्प्रदायों का किया जाता है परन्तु विशेष मान्यता ध्वनिसम्प्रदाय को ही प्राप्त है। वस्तु, अलंकार, रस रूप त्रिविध ध्वनि को ही काव्य का आत्मभूत तत्त्व समझने वाले विद्वानों की गणना ध्वनिसम्प्रदाय में की जाती है।

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति ध्वन् शब्दे[२] इस धातु से निकाली जाती है जिसका

तात्पर्य व्यक्त और अव्यक्त उभयविध ध्वनि भेदों से है। रघुवंश में अव्यक्त और उत्तररामचरित में व्यक्त शब्द के अर्थ में ध्वनि शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3] परन्तु काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द उस सुन्दर पद के लिए व्यवहृत होता है जो चमत्कारान्वित अर्थ वाला हो और व्यङ्ग्यगर्भित हो।[4] इसी प्रकार जहाँ अर्थ अपने को अथवा शब्द अपने अर्थ को गुणीभूत करके उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।[5] ध्वनिसम्प्रदाय के प्रस्थापक आचार्य मम्मट ने जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारकारक हो वहाँ ध्वनि मानी है और उसे उत्तम काव्य की संज्ञा प्रदान की है। केवल व्यङ्ग्यार्थ युक्त होने भर से कोई काव्य ध्वनि नहीं हो जाता परन्तु उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अधिक चमत्कृतिमत्ता अपेक्षित है।[6] उदाहरणार्थ 'गतोऽस्तमर्कः' जैसे वाक्यों में यदि दुकान बन्द करो यह अर्थ प्रतीत होता है तो यहाँ व्यंग्यार्थ तो है परन्तु रसाभाव होने से चमत्काराभाव है इस कारण यहाँ ध्वनि नहीं है। इसी का यदि (सखी द्वारा नायिका के प्रति उक्ति होने पर) अभिसरण की तैयारी करो या तुम्हारे पति आते ही होंगे अथवा आये न साजन वायदा करके—यह अर्थ हों तो यहाँ ध्वनि (उत्तम) काव्य होगा। ध्वनिसम्प्रदाय के अनुयायियों ने ध्वनि का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थों में किया है। लोचनकार अभिनवगुप्त ने ध्वनि शब्द के शब्द, अर्थ, (अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा व्यापार से भिन्न) व्यञ्जनाव्यापार, व्यङ्ग्यार्थ तथा काव्य यह पाँच अर्थ माने हैं।[7] इस प्रकार ध्वनिसम्प्रदाय के अन्दर शब्द, अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार और रसध्वनि ही प्रमुख रूप से काव्य के घटक तत्त्व हैं और यह सम्प्रदाय अन्य सभी सम्प्रदायों का प्रतिनिधि सम्प्रदाय है।

पाश्चात्य दृष्टिकोण—पाश्चात्य विचारकों ने काव्य में इन चार तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की है—१. रागात्मक तत्त्व या भाव तत्त्व (The Element of Emotion) २. बुद्धि तत्त्व या विचार तत्त्व (The Intellectual Element) ३. भाषाशैली तत्त्व (The Element of Expression) ४. कल्पना तत्त्व (The Element of Imagination).

डा० जॉनसन ने अपनी काव्यपरिभाषा में प्रायः इन चारों तत्त्वों को सम्मिलित कर लिया है। उनका कथन है कि कविता सत्य और प्रसन्नता के सम्मिश्रण की कला है जिसमें बुद्धि की सहायता के लिए कल्पना का प्रयोग किया जाता है—

Poetry is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason.

यद्यपि भारतीय और पाश्चात्य चिन्तकों ने काव्य के विषय में अलग अलग ढंग से विचार किया है परन्तु फिर भी इन विद्वानों के प्रतिपादन में कहीं कहीं बहुत अधिक साम्य दिखाई पड़ता है। पोप ने ऐसे ऑन क्रिटिसिज्म में कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं जिनका आनन्दवर्धन की ध्वनिविषयक कारिका के साथ विचित्र साम्य है—

In wit, as nature, what effects hearts
Is not the exactness of peculiar parts;
I, is not a lip or eye we beauty call
But the joint force and full result of all.

अर्थात् प्रकृति की भाँति काव्य में भी अङ्गों का समुचित अनुक्रम एवं अनुपात ही हमारे मन का अनुरञ्जन नहीं करता। नारी के शरीर में अधर अथवा नेत्र को ही हम सौन्दर्य नहीं कहते परन्तु सभी अङ्गों के संयुक्त और सम्पूर्ण प्रभाव का नाम ही सौन्दर्य है। तुलना कीजिए—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥८

पाश्चात्य जगत् के आलोचकों ने भी स्वीकार किया है कि कोई कविता अलंकृत होने पर भी निर्जीव (आत्मशून्य) सी प्रतीत होती है जैसे बोलचाल में विदग्ध एवं विनम्र होने पर भी किसी स्त्री के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह निष्प्राण है—

A poem may be very neat and elegant but without spirit...even of a woman we say that she is pretty, an agreeble talker and courteous but without spirit—Kant : The Critique of Judgement.

होरेस (Horace) ने भी काव्य के बाह्य सौन्दर्य से भिन्न एक अन्तस्तत्त्व की ओर संकेत किया है जो श्रोता की अन्तरात्मा के अनुकूल बनकर उन्हें आनन्दित करता है—

It is not enough for poems to have beauty, they must also be pleasing and lead the listners' soul whether they will.

इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्रियों ने तो ध्वनिसिद्धान्त को काव्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया ही है किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने भी कुछ भिन्न रूप में इस सिद्धान्त को गौरवपूर्ण स्थान दिया है। जैसे सभी देशों के विद्वान् किसी भी सत्पुरुष के लिए दया, दान, दाक्षिण्यादि गुणों को आवश्यक मानते हैं उसी प्रकार पूर्व और पश्चिम के साहित्यशास्त्री भी काव्य में ध्वनि-तत्त्व की अपरिहार्य स्थिति को स्वीकार करते हैं। इन सभी आचार्यों की प्रतिपादनशैली में तो भेद हो सकता है किन्तु अधिकांश आचार्य काव्य में शब्दार्थातिरिक्त किसी और प्राणप्रद धर्म की किसी न किसी रूप में सत्ता को स्वीकार करते हुए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप में ध्वनिमार्गानुयायी दिखाई पड़ रहे हैं।

—:०:—

(१) ध्वन्यालोक ३, ४३ वृत्तिभाग

(२) ध्वन् शब्दे पाणिनीय धातुपाठ ८५३ भ्वादिगण

(३) रघुवंश १६, १३; उत्तररामचरित ६, १७

(४) ध्वन्यालोक १, १५

(५) वहीं १, १३

(६) काव्यप्रकाश १, ४

(७) (अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्यो-ऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः। एवं चतुष्कमपि ध्वनिः। तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः।...अत्रोक्त इति पञ्चस्वर्थेषु योज्यम्—शब्देऽर्थे व्यापारे व्यंग्ये समुदाये च ॥ ध्वन्यालोक १, १३ कारिका पर स्थित प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः इस गद्यभाग की लोचनटीका)।

(८) ध्वन्यालोक १, ४

देखिए आचार्य विश्वेश्वरकृत ध्वन्यालोक की हिन्दी व्याख्या में डा० नगेन्द्र द्वारा लिखित भूमिका पृ० १९ (संवत् २०१९)

—:०:—

काव्यबिम्ब के परिप्रेदय में कालिदास की कविता

काव्यबिम्ब : आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में आजकल काव्यबिम्ब अथवा बिम्बवाद की पर्याप्त चर्चा की जा रही है। न केवल कविता, कहानी, उपन्यास अथवा नाटकों पर बिम्बवाद का प्रभाव है परन्तु आधुनिक चित्र-कला, मूर्तिकला एवं स्थापत्यकला आदि पर भी इस सिद्धान्त का पूरा पूरा प्रभाव है। अंग्रेज़ी में यह सिद्धान्त Imagism के रूप में प्रचलित है। हिन्दी में काव्य-बिम्ब, बिम्बवाद और रूपयोजना नाम से प्रसिद्ध है और उर्दू में इसे इशारियत नाम दिया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् ह्यूम (T. E. Hulme) का कहना है कि काव्य का प्रत्येक शब्द वस्तुविशेष का सही सही रूप अङ्कित करने का प्रयास करे और प्रत्येक शब्द किसी वस्तु का बिम्ब हो।[1] C. D. Lewis ने कहा है कि काव्यात्मक बिम्ब न्यूनाधिक रूप में ऐसा भावगर्भित शब्दचित्र है जो कविता के किसी भावविशेष या आवेगविशेष को पाठक में संक्रान्त कर देता है।[2] भारतीय आलोचक डा० नगेन्द्र ने कहा है—"काव्यबिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"[3] इस परिभाषा के अनुसार किसी भावविशेष से प्रेरणा पाई हुई कविकल्पना कविहृदय में एक मानसिक सौन्दर्यविशेष को उत्पन्न करती है उसी सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाला शब्दचित्र बिम्ब है। डा० रामगोपाल शर्मा ने बिम्ब की व्याख्या इस प्रकार की है—"जब रचनाकार किसी वस्तु को देखता है, उससे प्रभावित होता है या अनुभूति प्राप्त करता है तो वह अनुभूति उसके अन्दर भावात्मक होती है। भाव से मेरा तात्पर्य काव्य-शास्त्रीय भाव नहीं अपितु सूक्ष्मता है। किसी भी वस्तु या दृश्य की अपने मानस पर बनी हुई भावात्मक सत्ता को हम जब सम्प्रेषित करना चाहते हैं तो यथावत् प्रेषित न करके उन सबसे हमारे मानस पर बने हुए रूप या छवि को हम प्रेषित करते हैं। जो प्रेषित किया जाता है वह हमारी दृष्टि में बिम्ब है। यह बिम्ब वस्तु का यथार्थ रूप नहीं होता क्योंकि उसके पीछे व्यक्तिगत अनुभूति भी होती है।"[4] डाक्टर शर्मा की इस उक्ति से यह अभिप्राय निकलता है कि जब कवि अथवा कलाकार किसी वस्तु को देखता है तो उसके मन में एक प्रकार की अनुभूति होती है वह अनुभूति सूक्ष्म रूप से संस्कार रूप में रहती है।

उस वस्तु की अपने मानस पर बनी जिस छवि को शब्दार्थ अथवा रेखा इत्यादि के माध्यम से कलाकार सम्प्रेषित करता है वह बिम्ब कहलाती है।

वस्तुतः किसी वस्तु या भाव का मानस में भावात्मक मूर्त्त चित्र बन जाना ही बिम्ब है। इसी को हम शब्दों के द्वारा प्रस्तुत किसी पदार्थ का मूर्त्तीकरण कह सकते हैं। लौकिक या काव्येतर रचनाओं में जो वस्तु वर्णन होता है उसमें केवल उसकी प्रकृति ही वर्णित होती है। यह अपेक्षित नहीं होता कि श्रोता अथवा पाठक के मस्तिष्क में उस पदार्थ का चित्र बन जाय। यह कार्य साहित्यकार की प्रतिभापूर्ण वर्णनशक्ति के द्वारा सम्पन्न होता है। इस प्रकार के शब्दचित्र कई बार केवल वस्तुवर्णन के रूप में होते हैं और कई बार भावात्मक संवेदन को लिये हुए। मनोभाव क्योंकि अमूर्त्त होते हैं तथापि इस प्रक्रिया द्वारा उनके भी मूर्त्तीकरण का प्रयत्न होता है। वह मूर्त्तीकरण स्वयं अनुभव के रूप में हो सकता है अन्यथा किसी भावविशेष का प्रत्यक्षीकरण अथवा किसी स्वरूपविशेष में प्रस्तुतीकरण सम्भव नहीं है। किसी भी चित्र में चित्रित पदार्थ के साथ साथ चित्रकार की भावना भी निहित रहती है और उस चित्र के द्वारा उसका भी बोध होता है वहाँ भावना यद्यपि मूर्त्त नहीं होती परन्तु प्रेक्षक चित्र को देखने के साथ साथ उसका स्वयं अनुभव करता है इस प्रकार भाव का प्रत्यक्षीकरण होना भी सम्भव है।

अनुभूति के माध्यम पदार्थों के मूर्त्तीकरण हुए बिना उनके द्वारा होने वाली अनुभूति कभी भी सम्भव नहीं है। रसानुभूति में भी विभावों और अनुभावों का मूर्त्तीकरण अनिवार्य है। उद्यान, कान्ता, चन्द्र आदि आलम्बन और उद्दीपन जब तक प्रेक्षक की दृष्टि में प्रत्यक्ष नहीं हो जाते तब तक वह रस की अनुभूति नहीं कर सकता। इसी कारण दृश्यकाव्य को ही वास्तविक काव्य माना जाता रहा है। गौ शब्द के उच्चारण के बाद हमें गाय के जिस स्वरूप का अवबोध होता है वही उस शब्द का अर्थ है। 'गौश्चलः शुक्लः डित्थः' कहने के बाद गौ के स्वरूप का प्रत्यक्षीकरण होता है। स्वभावोक्ति अलङ्कार में भी वर्ण्य पदार्थ का स्वरूप या उसकी चेष्टा इत्यादि का प्रत्यक्षीकरण किया जाता है। पाठक या श्रोता के मन में स्वभावोक्ति द्वारा निर्मित किसी प्रदार्थ के इस मूर्त्त चित्र को बिम्ब कहा जा सकता है। यह बिम्ब दो प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है एक तो प्रस्तुत वस्तु को शब्दसामर्थ्य द्वारा पाठक या श्रोता के मस्तिष्क में मानस प्रतिमा के रूप में अङ्कित करने से (यह बिम्ब उसी पदार्थ का होता है) और दूसरे कई बार

यह वहाँ प्रतिबिम्ब को उपस्थित करने से होता है जहाँ एक प्रस्तुत पदार्थ के वर्णन के द्वारा दूसरे पदार्थ का चित्र बनता है। जैसे उपमा अलङ्कार में उपमान का चित्र उपमेय के चित्र को प्रस्तुत करने में सहायक होता है। उपमा की भाँति रूपक में भी बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों देखने में आते हैं। इस प्रकार काव्य-बिम्ब के विषय में संक्षेप से यही कहा जा सकता है कि काव्यों में शब्दार्थों के माध्यम से वर्ण्य पदार्थों का भावगर्भित मूर्त्तीकरण काव्यबिम्ब या रूपयोजना है। वस्तुतः यह बिम्बसिद्धान्त भारतीय ध्वनिसिद्धान्त के आसपास ही है।

बिम्बयोजना के लिए पश्चिम के विद्वान् कल्पना को बहुत महत्त्व देते हैं। कल्पना का स्वरूप उनके दृष्टिकोण से क्या है यह विचारणीय प्रश्न है। एक कल्पना तो उस अयथार्थ वस्तु की भी की जाती है जिसकी सत्ता ही नहीं होती जैसे मानों कहकर उत्प्रेक्षा अलङ्कार में किसी असम्भावित पदार्थ की सम्भावना करते हैं। कल्पना का एक और स्वरूप है और वह है अनुभूत वस्तु का यथार्थ रूप में वर्णन करना। यह वास्तव में कवि की प्रतिभा का ही एक प्रकार है। यदि पश्चिमी आलोचक इस दूसरे अर्थ में कल्पना या imagination को इसका अनिवार्य साधन मानते हैं तो इसमें कोई दोष नहीं परन्तु यदि पहले प्रकार की कल्पना को बिम्बयोजना के लिए अपरिहार्य एवं आवश्यक मानें तो उसमें आपत्ति हो सकती है क्योंकि स्वभावोक्ति के जो उदाहरण हैं उनमें स्पष्ट ही उस प्रकार की कल्पना का कोई स्पर्श नहीं होता।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि ध्वनि और बिम्ब में क्या सम्बन्ध है? इस बात को संस्कृत के वीचीतरङ्गन्याय की सहायता से समझा जा सकता है। जैसे किसी शान्त सरोवर के पानी में प्रथमोत्पन्न लहरी अनेक लहरियों को उत्पन्न करती है वैसे ही शब्दों के द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क में एक वस्तु का जो प्रथम रूप बनता है वह बिम्ब है और उससे उत्पन्न (प्रथम लहरी से पैदा हुई अन्य लहरियों की भाँति) आगे जो अनेक चित्र ध्वनित होते हैं उनको ध्वनि समझा जा सकता है। परन्तु यह नियम निरपवाद नहीं है क्योंकि कई बार बिम्ब स्वयं ध्वनित होते हैं। इस बात को आगे कालिदास की कविता के 'स्थिताः क्षण०' इत्यादि उदाहरण में समझाया जायेगा। कभी ध्वनि निरूपण में बिम्ब का योग होता है तो कभी ध्वनि बिम्बविधान में योग प्रदान करती है। बिम्ब और ध्वनि में यह साध्य-साधनभाव बदलता रहता है। जब बिम्ब से ध्वनि सम्पुष्ट होती है तो ध्वनि साध्य होती है और बिम्ब साधन और जब ध्वनि से बिम्ब पुष्ट होता है तो ध्वनि साधन और बिम्ब साध्य।

किसी भावविशेष को प्रकट करने वाले यह बिम्ब दो प्रकार के हैं—१. शब्दों से प्रकट होनेवाले शब्दबिम्ब तथा शब्दों की ध्वनि से उत्पन्न होने वाले ध्वनिबिम्ब या ध्वनिचित्र। पहले बिम्बों में अर्थ का स्वरूप ध्वनि की भाँति[५] पिहितापिहित रहता है। यह अर्थगर्भित बिम्ब किसी सुन्दरी की कोहरे से ढँकी हुई उस मूर्ति की तरह है जो पूरी पूरी नहीं दिखाई देती है। शब्दों की ध्वनि से उत्पन्न होने वाले दूसरे प्रकार के ध्वनिबिम्ब में संगीतात्मक ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिनमें शब्दों की ध्वनि अर्थानुसारी होती है (Sound must seem an echo to the sense)। इस प्रकार के स्थलों पर बिना शब्दों का अर्थ जाने ही भाव की कल्पना हो जाती है। ऐसे बिम्बों के सामने आने पर पाठक दिवा-स्वप्न की स्थिति में पहुँच जाता है और वह वास्तविकता से हटकर कल्पना की उड़ानें भरने लगता है।

कालिदास की कविता में काव्यबिम्ब-महाकवि कालिदास को ध्वनिवादी कवियों में मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। इन्होंने अपनी रसवन्ती कृतियों में थोड़े से शब्दों में बहुत बड़े एवं विलक्षण अर्थ को प्रकट करने वाली शैली को अपनाया है। डा० एस० के० डे और डा० एस० एन० दासगुप्ता ने इनके विषय में कहा है कि शैक्सपियर के समान कालिदास अपनी बात व्यञ्जना से अधिक प्रकट करते हैं और अभिधा से कम।[६] इसका अभिप्राय है कि इनकी शैली व्यञ्जनाप्रधान है। इस शैली को अपनाते हुए कालिदास ने जिन विलक्षण उपमाओं का प्रयोग किया है उनमें दो शब्दबिम्बों का निर्माण होता है। 'उपमा कालिदासस्य' इस प्रसिद्ध उक्ति के उपयुक्त पात्र कालिदास की निम्नलिखित उपमा में शब्दबिम्ब का निरूपण बहुत सुन्दर बन पड़ा है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥[७]

रघुवंश के इस श्लोक में अज और इन्दुमती के स्वयंवर के दृश्य का वर्णन है। जब इन्दुमती हाथ में वरमाला लिये हुए एक राजा के सामने पहुँचती है तो उस राजा के चेहरे पर उसी तरह की चमक आ जाती है जैसी सञ्चारिणी दीपशिखा के प्रकाश से राजमार्ग पर स्थित भवन पर दीप्ति आया करती है परन्तु जब इन्दुमती उसे छोड़कर आगे और दूसरे राजा के सामने पहुँच जाती है तो पहले राजा का मुँह उदास हो जाता है। इस पद्य से पहले क्रमशः एक भवन से दूसरे भवन पर पड़ती हुई दीपक की प्रकाश रेखा और पीछे छूटते हुए मकानों पर छाई अन्धकार की काली छाया का एक कल्पनात्मक चित्र पाठक के मस्तिष्क में घूम जाता है

तदनन्तर इस तुलना से दूसरा चित्र प्रस्तुत होता है दीपशिखा के समान जगमगाती हुई इन्दुमती और सजधज के बैठे हुए राजाओं के निराशा से मुरझाये हुए चेहरों का। यहाँ पहले चित्र के प्रकाश में राजाओं के नैराश्य की अनुभूति का गहरा संवेदन पाठक को होता है। इसीलिए पश्चिमी आलोचकों ने बिम्बों को बहुधा संवेदनात्मक या Sensuous कहा है।

उपमा के माध्यम से शब्दबिम्ब का एक और उदाहरण कुमारसम्भव से लिया जा सकता है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥[८]

बटुवेषधारी शिव के कटुवचनों से क्रुद्ध होकर जब पार्वती वहाँ से जाने को होती हैं तो शङ्कर महाराज अपना वास्तविक रूप प्रकट करके उन्हें हाथ से पकड़ लेते हैं उन्हें देखकर पार्वती का कोमल और सुन्दर शरीर काँपने लगता है वहाँ से जाने के लिए उठाया हुआ उनका पैर उठा ही रह जाता है तब मार्ग में पर्वत द्वारा रोकी हुई क्षुब्ध नदी की भाँति न तो पार्वती वहाँ रुक पाती हैं और न ही चल पाती हैं। इस प्रसङ्ग को पढ़ते हुए पाठक की आँखों के आगे एक ओर तो पर्वत द्वारा अवरुद्ध नदी का बिम्ब आ जाता है तो दूसरी ओर शिव द्वारा रोकी हुई क्षोभवती पार्वती का।

अर्थान्तरन्यास अलङ्कार भी बिम्बविधान का उतम साधन है। उपमा और रूपक जैसे अलङ्कारों में तो दो ही बिम्ब अथवा काल्पनिक चित्र बनते हैं परन्तु इस अलङ्कार में पहले एक बिम्ब बनता है और तदनन्तर उसके अनेक प्रतिबिम्ब उपस्थित हो जाते हैं। कालिदास ने स्थान स्थान पर अर्थान्तरन्यास को अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। और इसकी शक्ति से मेघदूत को शब्द-चित्रों से सुसज्जित करके विविध चित्रों वाली एक 'एलबम' की स्थिति में पहुँचा दिया है।

तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी—
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि॥[९]

इस श्लोक में पहले विरहिणी यक्षपत्नी का काल्पनिक चित्र पाठकों की आँखों के सामने घूम जाता है तदनन्तर यक्षिणी के सदृश ही अनेक देशदेशान्तरों की अनगिनत विरहिणी नायिकाओं के उदास चेहरे सामने आ जाते हैं।

कहीं कहीं अलङ्कारों का सहारा लिये बिना महाकवि ने बड़े सहज ढंग से विरहिणी नायिका का चित्र उपस्थित किया है—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥[१०]

यहाँ पर देवताराधन और यक्ष के चित्र को बनाने में लगी हुई यक्षिणी को सारिका के साथ बातचीत में लगा हुआ बताया गया है इसे पढ़कर पाठक के मानसपटल पर विरहिणी यक्षिणी और इसके समीप पिञ्जरे में बैठी हुई मैना का चित्र उपस्थित हो जाता है तथा कभी और कहीं देखा इसी तरह का कोई और चित्र भी प्रतिबिम्बित हो उठता है।

कालिदास ने कहीं कहीं यह बिम्बनिर्माण अनुभावों अर्थात् आश्रयगत चेष्टाओं की सहायता से सफलतापूर्वक किया है। महर्षि कण्व की वात्सल्य एवं प्रेमविह्वलता का अभिव्यञ्जन उनके ही अनुभावों द्वारा किया गया है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः
जीवन्ते गृहिणः कथं नु तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ॥[११]

इस बिम्बविधान में बहुत सारे स्थलों पर ध्वनि का बहुत बड़ा योग होता है। डा० शिवप्रसाद भारद्वाज ने अपने एक लेख में इसका बहुत सुन्दर रूप से प्रतिपादन किया है।[१२]

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याःस्खलिताः प्रपेदिरे
क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ॥[१३]

इस श्लोक में तपस्या करती हुई पार्वती का वर्णन है। वर्षा के दिनों में प्रथम मेघ की बूँदें उनके सिर से ढुलककर पल भर के लिए उनकी पलकों में

टिक जाती थीं फिर वहाँ से टपककर ओंठों पर गिरती हुई उनके कठोर स्तनों पर गिरने से छितराकर त्रिवलियों में धीमे धीमे लुढ़कती थीं वहाँ से वह गम्भीर नाभि में जा घुसती थीं। यहाँ पर वाच्यार्थ द्वारा केवल वृष्टिबिन्दुओं की यात्रा का ही ज्ञान होता है किन्तु व्यञ्जना से पद्मासन लगाकर बैठी हुई पार्वती की समाधिदशा का ज्ञान हो रहा है और साथ ही उनके अङ्गों के मार्दव, सौष्ठव एवं सहृदयहृदयावर्जकत्वादि गुणों की भी प्रतीति हो रही है। जलबिन्दुओं के 'स्थिता:' इस विशेषण से पार्वती के पलकों का अराल (टेढ़ा) और घना होना ध्वनित होता है दूसरे विशेषण 'ताडिताधरा:' से अधरों की अतिशय सुकुमारता अभिव्यक्त होती है अधर इतने कोमल हैं कि जल की नन्हीं बूँदों से भी उनपर चोट लगती है। तीसरे विशेषण 'चूर्णिता:' से पयोधरों की कठोरता व्यक्त होती है तभी तो उनसे टकराकर वह बूँदे चकनाचूर हो गईं। 'स्खलिता:' इस चौथे विशेषण से त्रिवली का समान रूप वाला क्रम तथा चिकनापन प्रकाशित होता है। इसीलिए तो बूँदों का स्खलन आसानी से हो पाया है और 'प्रपेदिरे' से नाभि की गम्भीरता सिद्ध होती है क्योंकि नाभि में पहुँच कर जलबिन्दु रुक गये हैं। इन पदों की व्यञ्जना से प्रतीत हुआ समाधिस्थ पार्वती का यह ध्वनिचित्र लावण्यमयी युवती रमणी के दूसरे एक और काल्पनिक रूपबिम्ब का निर्माण करता है।[१४]

कुमारसम्भव के निम्न श्लोक में महाकवि ने लज्जा, हर्ष और अवहित्था जैसे सञ्चारिभावों की लीलापत्रों की गणना से अभिव्यंजना की है और इस प्रकार कुमारीसुलभलज्जासम्पन्न पार्वती का बिम्ब उपस्थित किया है—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥[१५]

कवि की महिमा बताते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि सुकवि अचेतन पदार्थों का चेतन की भाँति और चेतन पदार्थों का अचेतन की भाँति अपनी कविता में वर्णन करता है।[१६] कालिदास ने निम्न पद्य में सीता के चरण के वियोग से सन्तप्त, जड़ नुपूर में चेतन के धर्मों का आरोप कर चरण और नूपुर का मित्रों के रूप में एक काल्पनिक बिम्ब उपस्थित किया है—

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम्।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥[१७]

कभी कभी कवि अत्यन्त थोड़े शब्दों से प्रबलतम एवं तीव्रतम मनोभावों को बिम्ब रूप में उपस्थित करने में समर्थ हो जाता है। तुलसीदासविरचित

With Best Compliments for.....
From-Bharatiya Vidya Prakashan,
Partner.

रामायण में जानकी की विदाई के अवसर पर बड़े थोड़े किन्तु सशक्त शब्दों से पितापुत्री का बिम्ब उपस्थित किया गया है—

सीय बिलोकि धीरता भागी। रहे कहावत परम बिरागी।
लीन्हि रायँ उर लाइ जानकी। मिटी महामरजाद ग्यान की ।।[१८]

राजा जनक बड़े विरक्त कहे जाते थे पर उस समय सीता को देखकर उनका भी धीरज भाग गया। राजा ने उनको अपने हृदय से लगा लिया। तब पुत्रीप्रेम के प्रभाव से ज्ञान की महान् मर्यादा भी टूट गई अर्थात् उनका तत्त्वज्ञान भी उन्हें उस समय रोने से न रोक सका। यहाँ धीरता के भागने और ज्ञान की मर्यादा के टूटने के वर्णन से जनक महाराज की शोकविह्वल मूर्त्ति की उपस्थिति हो जाती है। उनके हृदय में विद्यमान असह्य वेदना सहज ही हृदयगम्य होने लगती है। इसी प्रकार वृक्षों की ओट में खड़ा होकर दुष्यन्त शकुन्तला को देखते हुए 'अये लब्धं नेत्रनिर्वाणम्। एषा मे मनोरथप्रियतमा सुकुसुमास्तरणं शिलापट्टमधिशयाना सखीभ्यामन्वास्यते।'[१९] इन वाक्यों को कहता है तो यहाँ नेत्रनिर्वाण शब्द से त्रिलक्षण प्रकार की ध्वनि की सृष्टि होती है जो उतने ही बड़े चमत्कारपूर्ण बिम्ब का निर्माण करती है। यहाँ नेत्रनिर्वाण इस शब्द के दो मुख्यार्थ हो सकते हैं—१. नेत्रों का बुझना अथवा २. नेत्रों को मोक्ष मिलना। पहले बुझने रूप अर्थ की नेत्रों के साथ अन्वयानुपपत्ति होने पर मुख्यार्थ का बाध हो जाता है क्योंकि बुझना रूप धर्म तो दीपशिखा अथवा अग्नि में रहता है। तदनन्तर लक्षणा से नेत्रों की सन्तापशान्ति प्रतीत होती है। शकुन्तला के न दिखाई पड़ने से दुष्यन्त की आँखें नींद न आने से जल सी रही थीं। जलन की शान्ति से अतिशय सुख मिल गया है यह अर्थ व्यञ्जना से ज्ञात होता है। यहाँ ध्वनि की सहायता से निरतिशय सुख की प्राप्ति की हेतुभूत अनिन्द्यसुन्दरी शकुन्तला का एक बिम्ब तथा काल्पनिक प्रिया का दूसरा बिम्ब सहृदय प्रेक्षक के सामने उपस्थित हो जाता है। यदि निर्वाण का अर्थ मोक्ष लिया जाय तो मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर लक्षणा से यही अर्थ निकलता है कि नेत्रों को अपने चरमलक्ष्य की प्राप्ति हो गई है अब इन्हें और किसी वस्तु को प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है। जैसे ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर मुक्तात्मा को संसार की अन्य किसी भी प्रकार की उपलब्धि की अपेक्षा नहीं रहती उसी प्रकार शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त को अब और किसी सुन्दर वस्तु को देखने की आवश्यकता नहीं रही है। इस अर्थ में भी पहले परमसौन्दर्यसम्पन्न शकुन्तला का काल्पनिक बिम्ब सहृदय सामाजिक के मानसपटल पर उतर आता है, साथ ही थोड़ी देर बाद अपनी

काल्पनिक प्रियतमा की मधुर मूर्त्ति भी उसे अपनी दृष्टि के सामने उतरती हुई सी लगती है।

महाकवि की कविता में शब्दबिम्ब की भाँति ध्वनिचित्र भी देखने को मिलते हैं। मेघदूत में 'मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वाम्।'[२०] इस स्थल पर अनुप्रासालङ्कार धीमी धीमी गति से पवन द्वारा ढकेले जाते हुए मेघ की ओर संकेत करता है। यहाँ गत्यनुसारिणी भाषा का प्रयोग है। इसी प्रकार मालविकाग्निमित्र के 'मायूरी मदयति मार्जना मनांसि'[२१] इस वाक्य में तबले की थाप पर बजने वाली मायूरी मार्जना ध्वनि का अनुप्रास द्वारा नादानुकरण है।

इस प्रकार महाकवि कालिदास ने अपनी रचनाओं में स्थान स्थान पर काव्यबिम्बों का निर्माण करके उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा का परिचय दिया है।

—:०:—

(१) काव्यसमीक्षा; डा० विक्रमादित्यराय (वाराणसी १९६७) अध्याय ३, पृ० ८०

(२) The Poetic image is a more or less sensuous picture in words; to some degree metaphorical... but also charged with a releasing into the reader a special poetic emotion or passion. The Poetic Image: C. D. Lewis, p. २२, काव्यात्मक बिम्ब (अखौरी ब्रजनन्दनप्रसाद पटना) पृ० ५६ पर उद्धृत

(३) काव्य बिम्ब; डा० नगेन्द्र पृ० ५

(४) प्राच्य एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में बिम्बसिद्धान्त: डा० रामगोपाल शर्मा पृ० २४६—Principles of Literary Criticism in Sanskrit. Edited by Dr. R. C. Dvivedi (Delhi 1969) के अन्तर्गत

(५) नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः॥
काव्यप्रकाश ५, २५ कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति पर वामनाचार्य झलकीकर की टीका।

(६) But Kalidasa like Shakespeare suggests more than he expresses.—A History of Sanskrit Lite-

rature: Dr. S. N. Dasgupta & Dr. S. K. De, Vol. I, Book II, Chapt. III p. 154 (1947).

(७) रघुवंश ६, ६७

(८) कुमारसम्भव, ५, ८५

(९) मेघदूत १, ९

(१०) वहीं २, २५

(११) अभिज्ञानशाकुन्तल ४, ६

(१२) देखिए—बिम्बविधाने ध्वनेर्योग : डा० शिवप्रसाद भारद्वाज, विश्वसंस्कृतम् (होशियारपुर) नवम्बर फरवरी (१९६९-७०) पृ० ८७

(१३) कुमारसम्भव ५, २५

(१४) अत्र तपस्यन्त्या देव्या देहोपरि निपततां प्रथमवृष्टिबिन्दूनां क्रियास्वभाववर्णनेन देव्याः समाध्युचितावस्थानाभिव्यक्तिद्वारा चिरनिदाघतप्तदेहोपरि निपतनेन सुखपारवश्यसम्भ्रमहेतौ प्रथमवृष्टावप्यविहता समाध्यवस्था व्यज्यते।...किं चैभिरेव विशेषणैर्देव्या लोकोत्तरं सौन्दर्यमभिव्यज्यते। चित्रमीमांसा वाणीविहार वाराणसी पृ० २४-२५

(१५) कुमारसम्भव ६, ८५

(१६) भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं काव्ये सुकविः स्वतन्त्रतया॥ ध्वन्यालोक ३,४३ वृत्तिभाग

(१७) रघुवंश १३, २३

(१८) रामचरितमानस १, ३३७ पर तीसरी चौपाई

(१९) अभिज्ञानशाकुन्तलम् ३, ६ संवाद भाग

(२०) मेघदूत १, १०

(२१) मालविकाग्निमित्र १, २१

—:०:—

ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज प्रायः कहा करते हैं—'ध्वनि-सिद्धान्त साहित्यशास्त्र के चिन्तन का चरमोत्कर्ष है। इससे अधिक उत्कृष्ट काव्य-तत्त्व को न तो अब तक कोई आचार्य सोच सका है और ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः भविष्य में भी इतना समुन्नत काव्य सिद्धान्त न खोजा जा सके। काव्य रूपी पर्वत शृङ्खला का यह ऐसा अन्तिम सर्वोच्च शिखर है जिसकी तुलना में अन्य सिद्धान्तशिखर बहुत छोटे दिखाई देते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने इस सिद्धान्त की प्रवर्तना की है तथा आचार्य अभिनवगुप्त (अथवा अभिनव-गुप्तपाद)[1] तथा मम्मटाचार्य जैसे उद्भट विद्वानों ने प्रबलतम युक्तियाँ देकर इसकी प्रस्थापना की है।

ध्वनि शब्द तथा ध्वनिसम्प्रदाय

ध्वनि शब्द की व्युत्पत्ति ध्वन् शब्दे[2]—इस धातु से निकाली जाती है जिसका तात्पर्य व्यक्त और अव्यक्त उभयविध ध्वनिभेदों से है। रघुवंश में अव्यक्त तथा उत्तररामचरित में व्यक्त शब्द के अर्थ में ध्वनि शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3] शिशुपालवध में यह अव्यक्त शब्द के अर्थ में आया है।[4] परन्तु काव्यशास्त्र में ध्वनि शब्द उस सुन्दर अर्थ के लिए व्यवहृत होता है जिसे व्यञ्जनागर्भित पद के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार के पद से सूचित नहीं किया जा सकता जैसा कि ध्वन्यालोक में आचार्य आनन्दवर्धन ने बताया है—'जो सुन्दर अर्थ—अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति से प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करने वाले व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द को ही ध्वनि संज्ञा प्रदान की जा सकती हैं।[5] इस प्रकार इन्होंने चमत्कारान्वित तथा व्यङ्ग्यगर्भित शब्द को ध्वनि माना है। दूसरे एक स्थान पर इन्होंने बताया है कि जहाँ अर्थ अपने को तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर प्रतीयमान अर्थात् व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करता है उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है।[6] इन्होंने वाच्य और व्यंग्य में पौर्वापर्य माना है। जैसे पहले वाक्यस्थ पदों के अर्थों का ज्ञान होता है तदनन्तर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है वैसे ही पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है उसके बाद व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है।[7]

आगे चलकर आचार्य मम्मट ने जहाँ वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक

चमत्कारकारक हो वहाँ ध्वनि मानी है और उसे उत्तम काव्य का नाम दिया है। केवल व्यङ्ग्यार्थ होने भर से ही कोई काव्य ध्वनि नहीं हो जाता परन्तु उसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ की अधिक चमत्कृतिमत्ता अपेक्षित है।[८]

आनन्दवर्धनाचार्य के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिस अर्थ का ज्ञान अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति से न होकर व्यंजना वृत्ति से होता है वही सारभूत (प्रधानीभूत) अर्थ शोभा को प्राप्त होता है और विद्वानों में यह प्रसिद्ध भी है कि अधिक प्रिय वस्तु व्यङ्ग्य रूप से प्रकाशित की जाती है साक्षात् वाच्य रूप से नहीं। इसलिए यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रधानभूत रस के आश्रय से काव्य की रचना करने पर नवीन अर्थ की प्राप्ति होती है और तब रचना का सौन्दर्य भी अधिक बढ़ जाता है।[९] ध्वनि के उपर्युक्त स्वरूप को स्वीकार करने वाले विद्वानों की गणना ध्वनि सम्प्रदाय में की जातो है। सम्प्रदाय का अर्थ गुरुपरम्परा से प्राप्त ज्ञान या शिक्षा है। उत्तररामचरित में भी इस शब्द का यही अर्थ मिलता है।[१०] इस प्रकार परम्परागत ज्ञान जिसके अनुसार व्यङ्ग्यार्थप्रधान काव्य ही उत्तम काव्य है ध्वनिसम्प्रदाय कहा जाता है। ध्वनिकार आनन्दवर्धन तथा आचार्य मम्मट इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं।

ध्वनिसिद्धान्त का उद्भव

ध्वनिसिद्धांत का आविर्भाव सर्वप्रथम कब हुआ ? इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु जब से काव्य रचना आरम्भ हुई है तभी से उसमें ध्वनि तत्त्व भी विद्यमान रहा है। जैसे आत्मा, परमात्मा और आकाश के लक्षण या लक्ष्य का ज्ञान होने या न होने से उनके अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता उनकी सत्ता तो प्रत्येक स्थिति में रहती ही है इसी प्रकार ध्वनि-तत्त्व के स्वीकार करने या न करने से उसके अस्तित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता। प्रत्येक काव्य में किसी पद या वाक्य का वाच्यार्थ के अतिरिक्त भी दूसरा अर्थ होता है इतनी बात में भारतीय काव्यशास्त्र में न तो पहले विवाद र,ा है और न ही कभी भविष्य में होने की सम्भावना दिखाई पड़ती है। वाच्यार्थ से अतिरिक्त इस दूसरे अर्थ का ग्रहण कुमारिलभट्ट के अनुयायी अभिहितान्वयवादी मीमांसक अभिधा, लक्षणा और तात्पर्यवृत्ति से मानते हैं तो प्रभाकर के अनुयायी अन्विताभिधानवादी मीमांसक केवल अभिधा और लक्षणा से। नैयायिकों को यही ज्ञान अनुमान से हो जाता है और ध्वनि-वादी आचार्य इसका ज्ञान ध्वनि से मानते हैं। परन्तु 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः[११] जैसे स्थलों में—हे पण्डित जी! अब आप यहाँ निश्चित होकर घूमिए—इस

वाच्यार्थ के अतिरिक्त यदि तुम अपने जीवन की सुरक्षा चाहते हो तो अब यहाँ भूलकर भी मत आना, इस प्रतीयमान दूसरे अर्थ का कोई व्यक्ति अपलाप नहीं कर सकता क्योंकि यह सर्वजनबुद्धिसंवेद्य है। भामह जैसे अलङ्कारवादी आचार्य ने भी वाच्यार्थ को जब अन्य प्रकार से कहा जाता है तब पर्यायोक्त होता है।[१२] ऐसा स्वीकार करके वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ की आंशिक सत्ता मानी है। वेद के कुछ मन्त्रों में भी वाच्यार्थातिरिक्त अर्थों की ओर विद्वानों ने संकेत किया है—चत्वारि शृङ्गा०[१३] इत्यादि मन्त्र का महाभाष्य में व्याकरणपरक अर्थ किया गयाहै और चार सीगों का तात्पर्य नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात बताया है।[१४] निरुक्त में इसी मन्त्र का अर्थ यज्ञ परक किया गया है और होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा नाम के चार पुरोहित माने हैं।[१५] वाच्यार्थ द्वारा अभिव्यक्त होने वाले इस प्रकार के व्यङ्ग्यार्थ रामायण, महाभारत, पुराण तथा अन्य महाकवियों के काव्य और नाटकों में स्थान स्थान पर देखे जा सकते हैं।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्यशास्त्र के अर्थविशेष में प्रसिद्ध ध्वनि शब्द का सर्वप्रथम व्यवहार कब तथा किस अर्थ में हुआ ? आचार्य आनन्दवर्धन (८६०—८९०) ने काव्यस्यात्मा .....समाम्नातपूर्वः कहकर इसको पूर्ववर्ती आचार्यों से कथितपूर्व अर्थात् पहले कहा हुआ माना है।[१६] परन्तु देखने में यह आता है कि लिखित ग्रन्थों में आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व इसका किसी आचार्य ने उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इससे यह सिद्ध अवश्य होता है कि यद्यपि ध्वन्यालोक से पहले लिखित रूप में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं हुआ था किन्तु काव्य के आत्मभूत इस ध्वनि तत्त्व को विद्वान् मौखिक रूप से मानते आ रहे थे। काव्यों में उपलब्ध व्यङ्ग्यार्थ के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त ध्वनि शब्द के अनुकरण पर किया है। व्याकरणशास्त्र में गकार, औकार तथा विसर्गों से युक्त 'गौः' इस श्रोत्र ग्राह्य पद के लिए ध्वनि इस शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसे कानों से सुना जाने योग्य यह शब्द अपने से परे स्फोट रूप नित्य शब्द का अभिव्यंजक होता है और वही स्फोटरूपात्मक शब्द प्रधान होता है। इसी प्रकार काव्य का शब्द अपने वाच्यार्थ से परे किसी अन्य अर्थ को व्यक्त करता है यह व्यङ्ग्यार्थ ही काव्य का प्रधान तत्त्व होता है। जैसे वैयाकरणों की श्रोत्रग्राह्य व्यक्त वर्ण-ध्वनि अव्यक्त स्फोटरूपात्मक प्रधान और नित्यशब्द को अभिव्यक्त करती है वैसे ही साहित्यिकों की गौणीभूत एवं स्फुट (वाचक, वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ रूप) ध्वनि भी प्रधानीभूत एवं स्फुटास्फुट व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करती है।

है। इस प्रकार इन दोनों ही मतों में अव्यक्त वस्तु को प्रकट करने वाली व्यक्त वस्तु ध्वनि कही है और यहाँ व्यक्त से अव्यक्ताभिव्यक्तिरूप सादृश्य की उपलब्धि होती है। इसी व्यक्त से अव्यक्त के अभिव्यंजन रूप कार्यसाम्य के आधार पर साहित्यिकों ने जिन वाचक पदों तथा वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य इन तीन प्रकार के अर्थों से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है उन्हें भी ध्वनि मान लिया है।

ध्वनिशब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें सम्राट् पुष्यमित्र शुङ्ग (१८५ ई० पू० से १४९ ई० पू) के पुरोहित पतञ्जलि के महाभाष्य में मिलता है। उनके अनुसार शब्द के दो अर्थ हैं—(१) जिसके उच्चारण से सास्नालाङ्गूलककुद-खुरविषाणान्वित गौ जैसे पदार्थ का ज्ञान होता है और (२) व्यक्तार्थक अथवा अव्यक्तार्थक ध्वनि को भी शब्द कहते हैं। महाभाष्य में कहा गया है—गौ इस प्रयोग में शब्द का क्या स्वरूप है? क्या सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, खुर, विषाण रूप अर्थ ही शब्द है? ऐसा नहीं है क्योंकि यह तो द्रव्य हुआ। फिर शब्द क्या है? [इसका उत्तर है] जिसके उच्चारण से सास्ना, लाङ्गूल, ककुद, खुर, विषाणों का बोध होता है वही शब्द है अथवा लोक में प्रतीतपदार्थक (कोलाहल रूप प्रसिद्ध अर्थ के स्वरूप को बताने वाली) ध्वनि को शब्द कहते हैं। शब्द करो, शब्द मत करो, यह बच्चा शब्दकारी है—ध्वनि (आवाज) करने के कारण इस रूप में इस प्रकार के प्रयोग किये जाते हैं इस कारण ध्वनि को भी शब्द कहते हैं।[१७] स्पष्ट है यहाँ ध्वनि शब्द का प्रयोग अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द और आवाज के लिए हुआ है।

परन्तु आगे चलकर लोचनकार अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त ध्वनि शब्द की विशद व्याख्या की है। उनका कहना है कि जैसे घण्टे या भेरी के साथ दण्ड का संयोग होने से संयोगज शब्द उत्पन्न होता है अथवा बांस या कागज को कुल्हाड़े या हाथ से फाड़ने से विभागज शब्द की उत्पत्ति होती है और इस प्रकार के संयोगज अथवा विभागज शब्द से उत्पन्न शब्दपरम्परा के अन्तिम शब्द के द्वारा कर्णशष्कुलि में प्रवेश करके अव्यक्त स्फोटात्मक नित्य शब्द को प्रकाशित किया जाता है वैसे ही वक्ता के मुख में ताल्वादि आठ स्थानों के साथ जिह्वा के संयोग और वियोग से शब्द उत्पन्न होता है। इस प्रकार का शब्द 'वीचीतरङ्गन्याय' से श्रोता की कर्णशष्कुलि में प्रविष्ट होकर उसके हृदयस्थ नित्यस्फोटात्मक शब्द को अभिव्यक्त करता है इसी स्फोट से अर्थाभिव्यक्ति होती है। वक्ता द्वारा उच्चार्यमाण तथा श्रोता द्वारा श्रूयमाण स्फोट के अभिव्यंजक वर्णध्वनिसमूह रूप इस शब्द को वैयाकरणों ने ध्वनि कहा है।[१८] उनका आशय

यह है कि जैसे दीपकादि पहले से विद्यमान घटपटादि को अभिव्यक्त करते हैं ठीक वैसे ही यह वर्णात्मक शब्द श्रोता के हृदय में स्थित स्फोटात्मक नित्य शब्द को अभिव्यक्त करते हैं और इसी से अर्थाभिव्यक्ति अर्थात् शाब्दबोध होता है। इसी के आधार पर काव्यशास्त्रविशारदों ने वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ के अनन्तर घण्टे के रणनजन्य अनुरणन की भांति क्रमिक रूप से प्रतीत होने वाले चमत्कृतिपूर्ण अर्थ को ध्वनि कहा है।[१९] यहाँ इन्होंने भर्तृहरि के वाक्यपदीय की कारिका को अपने आशय को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत किया है। जैसे घण्टे की कठोर टङ्कार के बाद होने वाली झङ्कार कर्णमधुर होती है वैसे ही कठोर वाच्यार्थ के अनन्तर समझ में आने वाला यह व्यङ्ग्यार्थ भी मधुर होता है। इस शब्दधारा के प्रवाह की प्रक्रिया को वीचीतरङ्गन्याय द्वारा समझाया जाता है। जैसे किसी सरोवर में पत्थर के फैंक देने पर उस स्थान पर चारों ओर एक गोलाकार लहरचक्र उत्पन्न हो जाता है जो बढ़ते बढ़ते सारे तालाब में फैल कर व्याप्त हो जाता है और बीच में अथवा किनारे पर आने वाली किसी वस्तु या भूमि से टकराता है वैसे ही वक्ता के द्वारा उच्चारित प्रथम शब्द से उसके उत्पत्तिस्थान के चारों ओर शब्दतरङ्गचक्र उत्पन्न होकर आकाश क्षेत्र में दूर दूर तक फैल जाता है और जहाँ जहाँ उसको ग्रहण करने वाले श्रोता का कर्णशष्कुलिस्थ ग्रहणकयन्त्र होता है वहाँ वहाँ वह गृहीत होकर हृदयस्थ स्फोटात्मक शब्द को अभिव्यक्त कर देता है। यही स्फोट अर्थ का प्रकाशन करता है।

वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के स्वरूप को थोड़े विस्तार से इस प्रकार समझा जा सकता है। ध्वनति स्फोटं व्यनक्ति इति ध्वनिः। इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट के अभिव्यंजक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं। वामनाचार्य ने भी अर्थ की प्रकाशिका इस शक्ति को स्फोट कहा है—'प्रत्येक प्रकार की ज्ञेय ध्वनि में स्फोट नामक अव्यक्त शक्ति होती है जिसके कारण ध्वनि का उच्चारण करते ही उस शब्द के अन्दर रहने वाली स्फोटशक्ति आविर्भूत होकर उस शब्द के अर्थ को प्रकट कर देती है। यह शक्ति ध्वनि के प्रत्येक स्वरूप में रहती है। यदि यह वर्णध्वनि हो तो वर्ण के अन्दर रहने वाली वर्णस्फोटध्वनि से वर्ण का ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार पद और वाक्य के स्वरूप और उनके अर्थों का ज्ञान पदस्फोट और वाक्यस्फोट से हो जाता है। इस स्फोट के भीतर समस्त प्रमेयों को बोधन कराने की क्षमता रहती है।[२०]

गकार, औकार और विसर्गों के योग से बने 'गौः' शब्द की ध्वनियों का

ज्ञान युगपत् नहीं हो सकता क्योंकि श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि तो क्षणिक और अस्थिर है। एक ध्वनि के उच्चारण के बाद जब तक दूसरी ध्वनि का उच्चारण किया जाता है तब तक पहली वर्णध्वनि का स्वरूप नष्ट हो जाता है क्योंकि प्रत्येक वर्णध्वनि प्रथम क्षण में उत्पन्न होकर द्वितीय क्षण में रहती है और तीसरे क्षण में नष्ट हो जाती है। इसलिए अनेक वर्णों के समुदाय रूप पद के अर्थ की अथवा अनेक पदों के समुदाय रूप वाक्य के अर्थ की प्रतीति एक साथ नहीं हो सकती। वस्तुतः पूर्व पूर्व वर्ण के अनुभव से एक प्रकार का संस्कार उत्पन्न होता है। उस संस्कार के साथ मिले हुए अन्त्यवर्णश्रवण से उन तिरोहित वर्णों को भी ग्रहण करने वाली एक मानसिक पदप्रतीति होती है। अनेक पदों से मिल कर बने वाक्य की भी इसी प्रकार से मानसिक वाक्यप्रतीति हो जाती है। इसी प्रतीति को पदस्फोट या वाक्यस्फोट के नाम से कहा जाता है। वैयाकरणों के इस सिद्धान्त को ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने अपने ध्वनि-सिद्धान्त का आधार बनाया है। जिस प्रकार उच्चारित पदध्वनि की अपेक्षा उससे अभिव्यक्त होने वाले नित्यस्फोटात्मक शब्द की विशेष महत्ता एवं प्रधानता है उसी प्रकार वाच्यार्थ को तिरस्कृत करने वाले चमत्कारपूर्ण इस व्यङ्ग्यार्थ को अधिक सम्मान एवं प्राधान्य प्राप्त है। इस ध्वनित अर्थ को ही अभिव्यक्त करने वाले शब्दार्थयुगल को काव्य संज्ञा प्रदान की जाती है।[२१]

ध्वनिसम्प्रदाय का विकास

डा० सुशीलकुमार दे ने अपने संस्कृत काव्यशास्त्र के इतिहास में यह प्रतिपादन किया है कि ध्वन्यालोक की कारिकाओं को लिखने वाले विद्वान् तथा वृत्तिकार आनन्दवर्धन में ऐक्य नहीं है। वह ध्वन्यालोक की कारिकाओं के रचयिता को वृत्तिकार आनन्दवर्धनाचार्य से अलग व्यक्ति मानते हैं। परन्तु ध्वन्यालोक की समाप्ति पर लिखे गये अन्तिम श्लोक में आये हुए 'तद् व्याकरोत् सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः[२२] इस वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आनन्दवर्धन अपने आप को ध्वनितत्त्व का प्रकाशक कहते हुए इस ग्रन्थ की रचना करने वाला घोषित करते हैं। इन्होंने यह कहीं नहीं कहा है कि कारिका किसी और ने बनाई है और वृत्ति और उदाहरण मैंने दिये हैं। इस आधार पर सामान्यतः कारिकाकार और वृत्तिकार में अन्तर न मानकर उनमें अभेद समझा जाता है। यदि एक ही व्यक्ति को कारिकाकार और वृत्तिकार मान लिया जाय तो इस सम्प्रदाय का सुनियोजित आरम्भ नवम शताब्दी का उत्तरार्ध माना जा सकता है। यदि दोनों को पृथक् पृथक् समय में स्थिति मानकर ध्वनिकार को

वृत्तिकार आनन्दवर्धन से १००-१५० वर्ष के लगभग पूर्ववर्ती समझा जाय तो इस सम्प्रदाय का व्यवस्थित प्रारम्भ सप्तम शती का अन्तिम भाग और अष्टम शती का आरम्भिक भाग माना जा सकता है। आनन्दवर्धनाचार्य के ग्रन्थ का समय ८६०-८९० ई० माना जाता है। ध्वनि के स्वरूप का निरूपण करते हुए उन्होंने बड़ी सुन्दर विधि से बताया है कि जिस प्रकार अंगनाओं के शरीर में लावण्य नामक तत्त्व अधर, नासिका, स्तनादि प्रशस्त अङ्गों से पृथक् रूप में झलकता है उसी प्रकार (हृदयावर्जक एवं सुललित) काव्य में प्रयुक्त शब्दों का वाच्यार्थातिरिक्त प्रतीयमान अर्थ भी अलग से अवभासित होता है।[२३]

आज से लगभग १२०० वर्ष पहले आचार्य आनन्दवर्धन ही पहले आचार्य थे जिन्होंने रूढ़ियों को तोड़कर ध्वनिसिद्धान्त की प्रवर्तना की उनसे पहले के आचार्य तथा कवि रीति और अलङ्कार सम्प्रदायों में आस्था रखते थे और रससम्प्रदाय के अनुयायी भरतनाट्यशास्त्र के सिद्धान्तों का भी आँख मींचकर अनुकरण करते थे किन्तु आनन्दवर्धन ने बड़े निर्भीक शब्दों में काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति'[२४] कहकर ध्वनि सिद्धान्त को आस्थापूर्वक संसार के सामने रखा और स्पष्ट रूप से कहा—पाँच सन्धियाँ और उनके ६४ सन्ध्यङ्गों का रसाभिव्यक्ति की ओर ध्यान रखते हुए ही आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए। 'क्योंकि भरत ने नाट्यशास्त्र में इन सभी का प्रयोग अनिवार्य बताया है' यही मानकर इन सबको नाट्य में स्थान नहीं देना चाहिए।[२५] प्रबन्ध काव्य की रसाभिव्यञ्जकता के लिए यह आवश्यक है कि नाट्यशास्त्रोक्त मुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण नामक पञ्चसन्धियों और उपक्षेपादि ६४ अङ्गो को रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से जोड़ना चाहिए जैसा रत्नावली नाटिका में यथोचित मात्रा में किया गया है। केवल शास्त्रमर्यादा का पालन करने की इच्छा से इनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। यह भूल वेणीसंहार नाटक में की गई है। वहाँ प्रतिमुख सन्धि के विलास नामक अङ्ग को प्रकृत वीर रस के विरुद्ध होने पर भी भरत-मत के अनुसरण मात्र की इच्छा से द्वितीय अङ्क में दुर्योधन और भानुमती के शृङ्गारवर्णन के रूप में जोड़ दिया गया है।[२६]

आनन्दवर्धन के अनन्तर भोजराज (१००५-१०५४ ई० के लगभग) ने रससिद्धान्त का प्रतिपादन किया। रससिद्धान्त भी ध्वनिसिद्धान्त के अन्तर्भूत हो जाता है और यह रीति, अलङ्कार और वक्रोक्ति सिद्धान्त की अपेक्षा ध्वनि-सिद्धान्त के अधिक निकट है। इसके अनन्तर मम्मट ने सभी प्रचलित सिद्धान्तों का समाहार करते हुए ध्वनि की दृढ़ रूप में स्थापना की और उसी काव्य को उत्तम काव्य माना जिसमें व्यञ्जना का पुट हो।[२७]

आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धनाचार्य की अपेक्षा और भी प्रबलतर युक्तियाँ देकर ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना की तथा भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका में अभिनवगुप्त के द्वारा प्रदर्शित मतों को और भी परिमार्जित रूप देकर काव्यप्रकाश में रखा इसके अनन्तर विश्वनाथ (१३८४ ई०) ने सर्वविध काव्य के भीतर ध्वनि का कुछ कुछ अंश माना है। व्यङ्ग्यरहित काव्य को काव्य की श्रेणी से बहिष्कृत कर दिया है।[२८]

विश्वनाथ के बाद पण्डितराज जगन्नाथ (१६२०-१६६५ ई०) ने विश्वनाथ के काव्य लक्षण[२९] को खण्डित करते हुए बतलाया कि सुन्दर अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है।[३०] इन्होंने भी ध्वनिसिद्धान्त की पुष्टि की है। इनके समय से लेकर आज तक भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में ध्वनिसिद्धान्त को सभी विद्वान् स्वीकार करते आये हैं। वर्तमान समय के विद्वानों ने भी ध्वनि के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है इस सबसे ध्वनिसम्प्रदाय का स्वरूप जानने में बड़ी सहायता मिलती है।

—:०:—

(१) भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका और ध्वन्यालोक की लोचनटीका के यशस्वी व्याख्याकार अभिनवगुप्तपाद संस्कृत और हिन्दी के आलोचना क्षेत्र में अभिनवगुप्त के नाम से ही जाने जाते हैं। किन्तु प्रतीत यह होता है कि इन आचार्य का मूल नाम अभिनवगुप्तपाद रहा होगा। काव्यप्रकाश (४, २८ के बाद के वृत्तिभाग) के रसनिष्पत्ति के प्रकरण में भी जो 'अभिनवगुप्तपादाचार्याः' शब्द का प्रयोग आचार्य मम्मट ने किया है उसके सम्बन्ध में प्रायः यह समझ लिया जाता है कि यहाँ पादाचार्य विशेषण आदर अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर ने अपना यह मत प्रकट किया है कि अत्यन्त प्रबुद्ध होने के साथ साथ अत्यन्त मुखर भी होने के कारण गुरु ने इन आचार्य को अभिनवगुप्तपाद नाम दे दिया था—

"अभिनवगुप्तपादाः नाट्यालोचनादिकर्ता। इदमत्र रहस्यम्।... कश्चिद् गौडबालोऽतिसौबुध्यान्मुखरत्वाच्च निखिलबालानां भयप्रदत्वेन बालवलभीभुजङ्ग इति गुरुणा व्यपदिष्टः। सचाचार्यताभुपगत इति सकलरहस्याभिज्ञः श्रीवाग्देवतावतारो (मम्मटः) गूढं तन्नामाभिनवगोपानसीगुप्तपादः (गुप्तपादो भुजंगः। सर्प इति यावत् कुण्डली गूढपाच्चक्षुःश्रवाः इत्यमरः) इति

वैदग्ध्यमुखेनाभिव्यनक्तीति। अतएव मधुमत्यां रविभट्टाचार्यैरुक्तम्—'अभिनवपदेन ध्वनिटीकाकर्तृपुराणगुप्तपादलिखनविरोधोऽत्र न देय: इति सुधासागरे स्पष्टम्।

काव्यप्रकाश ४, २८ वृत्तिभाग पर वामनाचार्य झलकीकर की टीका पृ० ९५ चतुर्थ संस्करण सन् १९२१

(२) पाणिनीय धातुपाठ ८५३ भ्वादिगण
(३) रघुवंश १६, १३; उत्तररामचरित ६, १७
(४) शिशुपालवध १३, २५
(५) ध्वन्यालोक १, १५
(६) वहीं १, १३
(७) वहीं १, १०
(८) काव्य प्रकाश १, ४
(९) ध्वन्यालोक ४, ५ कारिका पर वृत्तिभाग
(१०) उत्तररामचरित ५, १५
(११) काव्यप्रकाश ५, १३८
(१२) काव्यालङ्कार ३, ८
(१३) ऋग्वेद ५, ५८, ३
(१४) महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ १५-१६
(१५) निरुक्त १, ३, ७
(१६) ध्वन्यालोक १, १
(१७) अथ शब्दानुशासनम्—अथ गौरित्यत्र क: शब्द: ? किं यत्तत्सास्नालांगूलककुदखुरविषाण्यर्थरूपं स शब्द:। नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। कस्तर्हि शब्द: येनोच्चारितेन सास्नालांगूलककुदखुरविषाणानां सम्प्रत्ययो भवति स शब्द:। अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिशब्द इत्युच्यते। तद् यथा शब्दं कुरु मा शब्दं कार्षी: शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते तस्मात् ध्वनि: शब्द इति (महाभाष्य १ अध्याय, १ पा०, १ आह्निक)
(१८) ध्वन्यालोक १, १३ लोचनटीका
(१९) वहीं १, १३ के वृत्तिभाग पर लोचनटीका
(२०) काव्यप्रकाश १, ४ पर वामनी टीका
(२१) (क) ध्वन्यालोक १, १ वृत्तिभाग (ख) काव्यप्रकाश १, ४ वृत्तिभाग
(२२) ध्वन्यालोक ४, ७

(२३) ध्वन्यालोक १, ४

(२४) वहीं १, १

(२५) सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ।। वहीं ३, १२

(२६) वहीं ३, १४ पर वृत्तिभाग

(२७) काव्यप्रकाश १, ४

(२८) साहित्यदर्पण ४, १

(२९) वहीं १, ३

(३०) रसगङ्गाधर १, १

—:०:—

आचार्य मम्मट का वैशिष्ट्य

भारतीय काव्यशास्त्र में आचार्य मम्मट का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है। आनन्दवर्धनाचार्य द्वारा प्रवर्तित ध्वनिसम्प्रदाय के समर्थकों और पोषकों में मम्मटाचार्य परम उच्च एवं अग्रणी माने जाते हैं। काव्यप्रकाश की लोकप्रियता एवं व्यापक प्रभाव को देखते हुए इस बात का पूरी तरह विश्वास हो जाता है कि 'ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य' मम्मट के द्वारा बनाये गये इस ग्रन्थ का ध्वनिसम्प्रदाय की जड़ें जमाने में सबसे अधिक योगदान है। अनेक उत्तरवर्ती विद्वानों को काव्यप्रकाश का अध्ययन कर इसके आधार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई। कुछ व्याख्याकारों ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता से प्रभावित होकर दूसरों को लाभान्वित करने के लिए अनेक मर्मबोधिनी टीकायें लिखीं। आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्यदर्पण की इसी ग्रन्थ के आधार पर रचना की है। इस ग्रन्थ के रहस्य को प्रकट करने के लिए माणिक्यचन्द्र, सरस्वतीतीर्थ, जयन्तभट्ट और वामनाचार्य जैसे विद्वानों ने संस्कृत टीकायें लिखी हैं। इन टीकाग्रन्थों की संख्या ५० से भी अधिक है। अंग्रेज़ी, हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी इसकी अनुवादसहित व्याख्यायें लिखी जा रही हैं। काव्यशास्त्र विषयक सिद्धान्तों को जानने के लि: जिज्ञासु अध्येता एवं अध्यापकों की यह ग्रन्थ पूरी सहायता करता है। इसी कारण आचार्य मम्मट की यह रचना साहित्यशास्त्रसागर मन्थन से उपलब्ध बहुविध रहस्य रत्नों की अक्षय निधि है।

काव्यप्रकाश का रचनाकाल १५५० ई० से ११०० ई० के मध्य माना जाता है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि और दशरूपक में धनञ्जय ने नाटकादि १० रूपकों तथा उनमें भूमिका निभाने वाले नायकनायिकादिकों का विस्तार से वर्णन किया है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ में काव्य के केवल इन्हीं अङ्गों को छोड़कर शेष लगभग सभी—रस, गुण, अलङ्कार आदि तत्त्वों का समुचित समावेश किया है। काव्यशास्त्र के अनेक गहन तत्त्वों को विलक्षण प्रतिभा के धनी इस विद्वान् ने कुछ ऐसे अनूठे ढंग से रखा है जिसके कारण इस शास्त्र के क्षेत्र में इस काव्यप्रकाश का एक विशिष्ट स्थान बन गया है। मम्मट की विषयप्रतिपादनशैली में निम्नलिखित सात विशेषतायें देखने में आती हैं—

१. युगप्रवर्तकता, २. सुसम्बद्धता, ३. यथोचित स्थानप्रदान, ४. यथार्थता, ५. सूत्रशैली, ६. सर्वाङ्गीणता और ७. समन्वयवादी दृष्टिकोण।

१. युगप्रवर्तकता—जब कोई विचारक या तो किसी सर्वथा मौलिक सिद्धान्त की स्थापना करता है अथवा अपने से पूर्ववर्ती किसी सिद्धान्तविशेष में समुचित संशोधन और परिष्कार करके उसे नया सा और प्रभावशाली रूप दे देता है तो उस समय के विचारों में एक नई सी क्रान्ति आ जाती है। परिणामत: चिन्तनजगत् में एक नया युग आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार के असाधारण प्रतिभाशाली चिन्तकों को युगप्रवर्तक कहा जाता है। कश्मीर के इन आचार्य ने संस्कृत काव्यशास्त्र के क्षेत्र में एक नवीन युग का सूत्रपात किया है। यद्यपि इनके ग्रन्थ में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है उन्हें पूरी तरह नूतन नहीं कहा जा सकता तथापि इन्होंने अपने समय में प्रचलित कतिपय विवादास्पद विषयों को परिष्कृत करके उन्हें एक नया सा रूप प्रदान किया है। लगभग १२०० वर्ष पहले से यह विवाद बड़े उग्र रूप में चला आ रहा था कि काव्य मे ऐसा कौनसा तत्त्व है जो उसे मन को उबा देने वाले दर्शन, मीमांसा और इतिहासादि विषयों से पृथक् करता है। भामह और दण्डो आदि मनीषियों ने अलङ्कारों को काव्य का प्राणप्रद धर्म बतलाया तो वामन और कुन्तक ने वक्रोक्ति को। परन्तु इन आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय इस समस्या का पूर्ण समाधान नहीं कर सके। इन सभी के मत में कुछ न कुछ न्यूनता है—इस बात का बराबर अनुभव किया जा रहा था। परन्तु आचार्य मम्मट ने जब अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश म हृदयग्राही एवं अकाट्य तर्क उपस्थित करते हुए रसध्वनि को काव्य का प्रधान अर्थात् जीवनाधायक एवं अपरिहार्य तत्त्व बतलाया तो यह सन्दिग्ध विषय बहुत कुछ परिष्कृत होकर एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में परिवर्तित हो गया। इन्होंने स्पष्ट रूप में बतलाया है—जैसे किसी मनुष्य की आत्मा के भीतर शूरता आदि धर्म सदैव नियत रूप से रहते हैं वैसे ही काव्य के आत्मभूत तत्त्व रस (इसका पूरा नाम रसध्वनि है) में उत्कर्ष को बढ़ाने वाले तथा अनिवार्य रूप से स्थिर होकर रहने वाले धर्म गुण कहलाते हैं। जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के ही होते हैं शरीर के नहीं, इसी प्रकार माधुर्य आदि गुण रस के ही धर्म हैं वर्णों के नहीं। रस में रहने वाले ये गुण उपयुक्त वर्णों के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं केवल वर्णों के आश्रित होकर नहीं रहते, और जो काव्य में विद्यमान उस अङ्गी रस को शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों के द्वारा कभी-कभी उत्कर्षयुक्त करते हैं वे अनुप्रासादि शब्दालङ्कार और

उपमादि अर्थालङ्कार कहे जाते हैं। शरीर के शोभाधान द्वारा परम्परया शरीरी आत्मा के उत्कर्षजनक हार आदि दैहिक अलङ्कारों के समान ये अलङ्कार भी परम्परया काव्य के गौरव को बढ़ाया करते हैं। शब्द तथा अर्थ रूप अङ्गों में अतिशय (वैशिष्ट्य) को उत्पन्न करके मुख्य रस को उपकृत करने वाले ये काव्य के अलङ्कार शरीर के कण्ठादि अङ्गों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी—आत्मा के भी उत्कर्षक हारादि के समान होते हैं।[1] इस प्रकार यहाँ आचार्य मम्मट ने शब्दार्थ को काव्य का शरीर, रस को आत्मा और गुण और अलङ्कारों को काव्य के उत्कर्ष को बढ़ाने वाला तत्त्व माना है। आचार्य मम्मट से लगभग १२०० वर्ष पहले भरतमुनि ने भी काव्य में सर्वोपरि महत्त्व रस को ही प्रदान करते हुए कहा है—'नाट्य में रस से बढ़कर और कोई वस्तु नहीं है[2] और उसकी प्रतीति विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के साथ स्थायिभाव के साथ संयोग होने से होती है।'[3] किन्तु भरतमुनि ने रस और ध्वनि का अपने मत में सामञ्जस्य स्थापित नहीं किया है। रस के साथ ध्वनि का यह नियत सम्बन्ध मम्मटाचार्य से पहले आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में ही मिलता है। इन्हें छोड़कर मम्मट से पूर्ववर्ती और किसी आचार्य ने रस के साथ ध्वनि का सम्बन्ध नहीं दिखाया है। आनन्दवर्धन के समान ही रस के साथ ध्वनि का अनिवार्य सम्बन्ध बताते हुए मम्मट ने बतलाया है कि रसमयी रचना तभी उत्तमकाव्य का स्थान प्राप्त कर सकती है जब वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो।[4] जैसे विद्वान् वैयाकरण, प्रधान एवं स्फोटात्मक अर्थ को प्रकट करने वाले शब्द को ध्वनि कहते हैं वैसे ही साहित्यिक विचारक वाच्यार्थ को तिरस्कृत करने वाले (वाच्यार्थ को अपनी अपेक्षा गौण बनाने वाले) व्यङ्ग्यार्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्दार्थों की समष्टि को ध्वनि बताते हैं।[5] ध्वनि के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए ध्वनिलक्षण देकर 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादि उदाहरण द्वारा जो स्पष्टीकरण किया है उससे सिद्ध हो जाता है कि यह रसध्वनि को ही उत्तमकाव्य की श्रेणी में रखते हैं और यहाँ पर शृङ्गार रसध्वनि ही बताई गई है।[6] धनञ्जय ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस का निरूपण तो किया है किन्तु उसका सम्बन्ध अभिधा और तात्पर्य वृत्ति के साथ जोड़ा है। यद्यपि आनन्दवर्धनाचार्य ने मम्मट से पहले ही रस और ध्वनि का आपस में सम्बन्ध बतला दिया है किन्तु रसध्वनि की स्थापना के लिए वैसी अकाट्य एवं हृदयग्राही युक्तियाँ वह नहीं प्रस्तुत कर पाये हैं जैसी आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में दी हैं। उन्होंने लगभग तीन दर्जन युक्तियाँ देकर इस बात की स्थापना की है—रसादिरूप अर्थ तो स्वप्न में

भी वाच्य अर्थात् अभिधागम्य नहीं है।' संख्या, काल और आश्रय आदि के भेद से वाच्य और व्यङ्ग्य में सर्वथा भेद[७] है। आचार्य मम्मट के इस सत्प्रयास से काव्य की आत्मा के विषय में पहले से फैले हुए सारे सन्देह दूर हो गये और ध्वनिसम्प्रदाय ने बड़े सशक्त रूप में काव्यशास्त्र के अन्दर स्थान प्राप्त कर लिया। इन्होंने काव्यप्रकाश में काव्य के घटक तत्वों (रस, अलङ्कार, गुण आदि) में जिस ढङ्ग से गौणप्रधानभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव की स्थापना की है उसी रूप में इनके समय से लेकर अब तक के भारतीय काव्यशास्त्र में इन विचारों को मान्यता प्राप्त है। मम्मट की इस महिमा के कारण उन्हें युगप्रवर्तक माना जा सकता है। सुधासागर नामक काव्यप्रकाश की टीका में भीमसेन ने आचार्य मम्मट को वाग्देवतावतार माना है।[८] गोविन्दठक्कुर ने काव्यप्रदीपटीका में मम्मट की जो कहीं कहीं आलोचना की है उसका निराकरण करते हुए टीकाकार भीमसेन ने बताया है कि वाग्देवतावतार मम्मट की उक्ति का खण्डन तो स्वयं देवताओं के गुरु बृहस्पति भी नहीं कर सकते मनुष्य रूपी मच्छरों की तो बात ही क्या है ?[९] इस प्रकार काव्यशास्त्रविषयक कुछ परिष्कृत सिद्धान्तों की प्रतिष्ठापना करने के कारण संस्कृतसाहित्य के आलोचनाक्षेत्र में इन्होंने एक नये युग का प्रवर्तन किया है। हिन्दी के महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के समय से पहले छन्दःशास्त्र के नियमों का उल्लंघन कर पद्यमयी कविता का निर्माण नहीं किया जाता था किन्तु क्रान्तिकारी निराला ने इस नियम की रूढ़ियों को तोड़कर छन्दों के नियमों से निर्मुक्त स्वच्छन्द छन्द में कवितायें रचकर एक नवीन युग का आरम्भ किया। उ के अनुकरण पर आज भी बिना छन्द के कविता की जाती है। निराला की भाँति ही आचार्य मम्मट भी अपने समय के युगनिर्माता थे।

२. सुसम्बद्धता—काव्यप्रकाश में १० उल्लास हैं यह सभी उल्लास मम्मट द्वारा बताये हुए—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि,—[१०] इसी काव्यलक्षण के ऊपर आधारित हैं। प्रथम उल्लास में मङ्गलाचरण के बाद काव्य के प्रयोजन, काव्य के कारण, काव्यलक्षण और काव्यभेद बता दिये हैं। इसके अनन्तर द्वितीय उल्लास मे उपर्युक्त लक्षण में आये हुए 'शब्दार्थौ' अर्थात् शब्द और अर्थ को स्पष्ट करने के लिए वाचक, लक्षक और व्यञ्जक यह तीन प्रकार के शब्द एवं वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य यह तीन प्रकार के अर्थ बताये हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना ये तीन शब्द शक्तियाँ कही हैं और इन पर आधारित व्यञ्जना का निरूपण है। तृतीय उल्लास मे आर्थी व्यञ्जना के

उदाहरण दिये हुए हैं। चतुर्थ उल्लास के भीतर काव्य में उत्तमकाव्य के १०४५५ भेद बताये हैं और पञ्चम उल्लास में आठ प्रकार का गुणीभूतव्यंग्य उदाहरणसहित समझाया गया है। इसी अध्याय में व्यञ्जनावृत्ति की स्थापना के लिए बहुत सारी युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। षष्ठ उल्लास में अधम काव्य के भेद बतलाने के लिए चित्रकाव्यों का निरूपण किया गया है। इस अध्याय तक काव्यलक्षण के 'शब्दार्थौ' पद की ही व्याख्या है। ७वें उल्लास में 'अदोषौ' पद की विवेचना करने के लिए ७० (१६ पददोष, २१ वाक्यदोष, २३ अर्थदोष और १० रसदोष) दोष सोदाहरण दिखाये गये हैं। कहीं कहीं पर यह दोष दोष नहीं कहलाते इस बात का भी प्रतिपादन है। 'सगुणौ' इस विशेषण की व्याख्या में आठवें उल्लास में गुणलक्षण, गुण और अलङ्कारों में अभेद मानने वालों के मत का खण्डन, अलङ्कार का लक्षण तथा माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनों गुणों के अन्दर वामन के १० गुणों को अन्तर्भूत किया गया है। 'अनलंकृती पुनः क्वापि' इन पदों की व्याख्या में नवम तथा दशम उल्लासों में शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार बताये हैं। नवम उल्लास में गौडी आदि रीतियों के साथ वक्रोक्ति आदि ६ शब्दालङ्कारों के सोदाहरण लक्षण दिये गये हैं। १०वें उल्लास में उपमादि ६१ अर्थालङ्कारों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है अन्त में वामनोक्त अलंकारदोषों का खण्डन करते हुए इस ग्रन्थ को समाप्त किया गया है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने बड़े सुनियोजित रूप में सभी विषयों को परस्पर सम्बद्ध बनाकर रखा है। इनकी ओर से इस बात का पूरा प्रयास किया गया है कि अपेक्षित सामग्री छूटे नहीं और अनपेक्षित और असम्बद्ध सामग्री बीच में न आने पाये। काव्यप्रकाश के प्रत्येक पृष्ठ की पंक्तियाँ 'तददोषौ' इत्यादि काव्यलक्षण सूत्र की व्याख्या में लिखी गई हैं। यह कार्य मम्मट की योजनाबुद्धि का परिणाम है।

३. **यथोचित स्थानप्रदान**—काव्यप्रकाश में काव्य के सभी अङ्गों को समुचित महत्त्व दिया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ में ध्वनिविरोधी सभी सिद्धान्तों का खण्डन है और इन्होंने अपने ग्रन्थ में रस को ही सर्वोपरि स्थान दिया है परन्तु गुण और अलङ्कारों को भी काव्य में स्थान दिया है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्त अतिवाद को लिये हुए है। भरत मुनि का कहना है कि काव्य में रस का स्थान सर्वोपरि है क्योंकि नाट्य में रस से बढ़कर और दूसरा पदार्थ नहीं है।[11] दण्डी अलङ्कारों को काव्य की शोभा बढ़ाने वाले मानते हैं[12] वामन के अनुसार काव्य की आत्मा रीति है[13] तो कुन्तक के अनुसार

काव्य को वक्रव्यापार वाला होना चाहिए।[१४] किन्तु आचार्य मम्मट ने 'तददोषौ' इत्यादि काव्यलक्षण उपस्थित करते हुए बताया है कि काव्य में रस, गुण, अलङ्कार, शब्द और अर्थ इन सभी तत्त्वों की आवश्यकता होती है। किन्तु इनमें स्थानभेद है। रसध्वनि का स्थान सर्वोपरि है रसों का गुणों के साथ अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण काव्य में उनकी भी पूरी आवश्यकता होती है। अलङ्कार भी काव्य में थोड़ा बहुत मात्रा में होने चाहिए। इन्होंने ध्वनि काव्य को उत्तम, गुणीभूतव्यङ्ग्य को मध्यम तथा चित्र काव्य को अधमकाव्य माना है।[१५] इन्होंने ध्वनि को अङ्गी, गुणों को उत्कर्ष बढ़ाने वाला आभ्यन्तर अङ्ग और अनुप्रासादि को हार की तरह बाह्य शोभा को बढ़ाने वाला तत्त्व माना है।[१६] इस प्रकार जो काव्यतत्त्व जिस स्थान के अनुरूप है वही स्थान उसे इस ग्रन्थ में दे दिया गया है। त्रिविध ध्वनि में भी रसध्वनि को सबसे ऊँचा होने का गौरव प्राप्त है।

४. यथार्थता—आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में क्लिष्ट, जटिल और सन्दिग्ध सिद्धान्तों को निर्भ्रान्त रूप से रखने का प्रयास किया है। एक कुशल शिक्षक की भाँति इन्होंने स्थान स्थान पर दूसरे विद्वानों के मतों अथवा उदाहरणों को शुद्ध किया है। द्वितीय उल्लास में अभिधावादी और लक्षणावादी मीमांसकों को व्यञ्जना मानने के लिए बाध्य करते हुए उन्होंने कहा है कि 'गंगायां घोष:' जैसे वाक्यों में जिस शैत्यपावनत्वादि फल का ज्ञान कराने के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है शब्द से गम्य उस फल के ज्ञान के लिए व्यञ्जना से अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता। संकेतग्रह न होने से अभिधावृत्ति तो फल की बोधिका नहीं है और मुख्यार्थबाधादि तीन हेतुओं के न होने के कारण लक्षणा भी फलज्ञापिका नहीं हो सकती। और लक्षणा से शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीर का भी ज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि पहले लक्षणा से केवल तट की उपस्थिति होती है तदनन्तर शैत्यपावनत्वादिधर्मों का ज्ञान व्यञ्जना से होता है।[१७] इसी उल्लास में उन्होंने मुकुलभट्ट के द्वारा बतलाये उपादान लक्षणा के दोनों उदाहरणों का खण्डन करते हुए कहा है कि उनके द्वारा दिये गये उदाहरण ठीक नहीं है[१८] हमारे उदाहरण ही निर्दुष्ट हैं। इसी भाँति पाँचवें उल्लास में रस का ज्ञान अभिधा द्वारा सम्भव नहीं है वह तो व्यञ्जनागम्य ही है इस मत को सिद्ध करने के लिए कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकरभट्ट इन दोनों मीमांसक आचार्यों के अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद का खण्डन करके अन्त में अपना निर्णय दे

देते हैं—'अभिहितान्वयवाद में अन्वित अर्थ वाच्य होता है और अन्विताभिधानवाद में सामान्य रूप से पदार्थान्तरमात्र से अन्वित अर्थ वाच्यार्थ हुआ करता है अन्वितविशेष तो दोनों ही मतों में वाच्य नहीं हो सकता। इस लिए दोनों ही सिद्धान्तों में वाच्यार्थ से भिन्न ही वाक्यार्थ हुआ करता है। इस स्थिति में उसके भी बाद ज्ञात होने वाला व्यङ्ग्यार्थ तो वाच्य हो ही नहीं सकता अत: उस व्यङ्ग्यार्थ की बोध के लिए तो इन दोनों सिद्धान्तों में व्यञ्जना का मानना अपरिहार्य ही है।'[१९] कुछ मीमांसकों द्वारा माने जाने वाले 'कार्य के अनुसार कारण की कल्पना की जाती है तथा भट्टलोल्लट के 'जिस तात्पर्य से शब्द बोला जाता है वही उसका अर्थ है'[२०] इस मत का मम्मट ने वास्तविक अर्थ बताया है। अभिधावादियों के सोऽयमिषोरिव० इत्यादि सिद्धान्त का खण्डन करके व्यञ्जना अभिधा और लक्षणारूप नहीं है यह बात युक्तियों से सिद्ध की है।[२१] अखण्डबुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है और अखण्डवाक्य ही उसका वाचक होता है'[२२] इस मत को मानने वाले वेदान्तियों की भी खबर ली है। पंचम उल्लास के अन्त में अनुमानवादी महिमभट्ट के मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर खण्डित किया है।[२३] इस तरह इन्होंने दूसरे आचार्यों के सिद्धान्तों के खोखलेपन को दिखाकर व्यञ्जनासिद्धान्त का यथार्थ रूप सामने रखा है।

५. सूत्रशैली—काव्यप्रकाश में साहित्यशास्त्र के सभी उपयोगी विषयों का निरूपण अत्यन्त संक्षिप्त रूप से सूत्रशैली में हुआ है। परिणामत: इस ग्रन्थ में लगभग १२०० वर्षों से परम्परागत पूर्ववर्ती आचार्यों के सभी सिद्धान्तों का साररूप में संग्रह हो सका है। मम्मट ने काव्यशास्त्र रूपी सागर का काव्यप्रकाश रूपी गागर मे भर दिया है। यह आचार्य बड़े से बड़े काव्यसिद्धान्तों को थोड़े से थोड़े शब्दों में व्यक्त करने की क्षमता रखते हैं। इन्होंने यदि यह शैली न अपनाई होती तो इस ग्रन्थ का बहुत अधिक कलवर हो जाना था और सभी काव्याङ्गों का समावेश होना कठिन था। वैयाकरणों के मत में ध्वनि किसे कहते हैं और साहित्यिक किसे ध्वनि मानते हैं इस बात को तीन पंक्तियों में रख दिया है।[२४] पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को एक ही वाक्य में रख देने की वैयाकरणों और दार्शनिकों की शैली को स्थान स्थान पर अपनाया गया है। संकेत का ग्रहण व्यक्ति में न होकर व्यक्ति के जात्यादि धर्मों में होता है क्योंकि व्यक्ति में संकेत मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं; विशिष्ट (परस्परान्वित) पदार्थ ही वाक्यार्थ होते हैं केवल अनन्वित पदार्थों का बाद में तात्पर्यवृत्ति से विदित होने

वाला अन्वय वाक्यार्थ नहीं होता' इस वाक्य में अन्वताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद दोनों के मत आ गये हैं।[२५] इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक इसी शैली को अपनाया गया है।

६. सर्वाङ्गीणता—मम्मटाचार्य का ग्रन्थ काव्यप्रकाश सर्वाङ्गपूर्ण कृति है। इसमें काव्य के सभी उपयोगी तत्वों का सूक्ष्मविवेचन किया गया है। मम्मट के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने काव्य के सभी अङ्गों के विषय में इनके समान सन्तुलित विचार नहीं प्रकट किये हैं। आचार्य भरत ने अपने विशाल ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति, प्रेक्षागृह आदि अनेक विषयों पर विस्तार से लिखा है किन्तु काव्यशास्त्र सम्बन्धी सामग्री २-३ अध्यायों में ही दी है। रस का विवेचन तो उन्होंने विस्तृत रूप में किया है किन्तु उपमादि चार अलंकार ही बताये हैं। गुण और दोषों के विषय में उनके ग्रन्थ में कुछ नहीं मिलता। भामह और दण्डी ने अलंकारों पर तो खूब लिखा है किन्तु शब्दशक्तियों, रसध्वनि और काव्यों के भेदों का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है। आचार्य वामन ने गुण, दोष और अलङ्कारों के साथ रीति का निरूपण तो किया है किन्तु काव्य के प्रधानतत्व रस की घोर उपेक्षा की है। काव्यालङ्कार-सारसंग्रह में उद्भट ने ४१ अलङ्कारों की विवेचना की है और सब बातों को छोड़ दिया है मानों अलंकारों के सिवाय उनके पास और कुछ वर्णनीय विषय नहीं रहा है। १६ अध्यायों में विभक्त रुद्रट के काव्यालङ्कार नामक ग्रन्थ में काव्यलक्षण, दस रसों, भावों और नायकनायिका भेदों को तो बताया गया है किन्तु उनके ग्रन्थ में शब्दशक्तियों के ऊपर विचार नहीं किया गया है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ के चारों उद्योतों में ध्वनिस्थापन, अभिधा-मूलध्वनि, लक्षणामूलध्वनि और पदपदांशवाक्यरचनागतध्वनि को बताकर ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य ध्वनि में और अधिक चमत्कार कैसे आ जाता है इस बात को विस्तारपूर्वक बताया है। इस कारण वह ध्वनि के सीमित अथवा असीमित घेरे को तोड़कर बाहर नहीं निकलते। अनेक स्थलों पर पुनरावृत्ति करके भी ध्वनिनिरूपण में ही सारी शक्ति लगाने के बाद भी वह अपने ग्रन्थ को शक्ति-शाली नहीं बना पाये। ध्वनि के पक्ष में उन्होंने जो युक्तियाँ रखीं उन्हें परवर्ती महिमभट्ट ने बुरी तरह खण्डित कर दिया और यदि आचार्य मम्मट इस सिद्धान्त की युक्तिपूर्वक पुनः स्थापना नहीं करते तो न जाने और कौन से सिद्धान्त को काव्यजगत् में मान्यता प्राप्त होती।

आचार्य अभिनवगुप्त ने बहुत सारे ग्रन्थों का निर्माण किया था किन्तु काव्य-

शास्त्र से सम्बद्ध कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उन्होंने नहीं लिखा। भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका और ध्वन्यालोक की लोचनटीका लिखकर उन्होंने नाट्य-शास्त्र के गूढ सिद्धान्तों तथा ध्वनि के स्वरूप को कुशलता के साथ स्पष्ट किया है। किन्तु उनकी इन दोनों टीकाओं में अलंकार, दोष और अभिधा और लक्षणा शक्ति आदि काव्य के दूसरे अङ्गों पर प्रकाश नहीं डाला गया। राजशेखर के ग्रन्थ काव्यमीमांसा में १८ अध्याय हैं। इनकी विषयवस्तु पहले आचार्यों के बताये हुए विषयों से नितान्त भिन्न है। इन्होंने शास्त्रसंग्रह, शास्त्रनिर्देश, काव्यपुरुषोत्पत्ति, पदवाक्यविवेक अर्थव्याप्ति, कविचर्या, देशविभाग, कालविभाग आदि विषयों पर तो बहुत लिखा है किन्तु काव्यशास्त्र की रस, ध्वनि, और अलंकार जैसी वस्तुओं के स्वरूप का विशदीकरण नहीं किया है। यह ग्रन्थ कवियों को जानकारी को बढ़ाने में तो बहुत सहायता करना है किन्तु इससे अलंकारशास्त्र के ज्ञान में सहायता नहीं मिलती। मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् मुकुलभट्ट की अभिधावृत्तिमात्रिका में केवल १५ कारिकायें हैं जिनमें लक्षणा और व्यञ्जनावृत्ति का खण्डन करके केवल अभिधा को वृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इस कारण इस कृति में अभिधा को छोड़कर और किसी तत्त्व को छूआ तक नहीं गया है। यह बात दूसरी है कि अभिधा के प्रसङ्ग से लक्षणा और व्यञ्जना का नाम ले लिया गया है। धनञ्जयकृत दशरूपक में भी भरतकृतनाट्यशास्त्र के समान नाट्य के विभिन्न तत्त्वों का सूक्ष्म दृष्टि से विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्रथम प्रकाश में कथावस्तु के प्रकार, पाँच सन्धियाँ, पाँच अवस्थायें तथा पाँच अर्थप्रकृतियाँ बताई गई हैं। द्वितीय प्रकाश में नायकनायिकाभेद तथा कैशिकी आदि वृत्तियों के भेद हैं। तृतीय प्रकाश में रूपकों के लक्षण, प्रस्तावना, अङ्कसंविधान, कथा भाग में यथोचित परिवर्तन, नाटक के मुख्य रस, पात्रों की संख्या, प्रवेश और निर्गम के नियम आदि बताये गये हैं। चतुर्थ अध्याय में शृङ्गारादि रस, इनके स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव, रसनिष्पत्ति, रस का व्यञ्जना के साथ सम्बन्ध न बताकर अभिधा के साथ रस सम्बन्ध की युक्तिपूर्वक स्थापना, नाट्य में शान्तरस को अनुपयोगिता आदि विषय बड़ी सूक्ष्मता के साथ निरूपित किये गये हैं। किन्तु रसवादी होते हुए भी यह आचार्य ध्वनिविरोधी हैं। इन्होंने भरपूर शक्ति के साथ ध्वनि का खण्डन किया है और उसके साथ रस का सम्बन्ध न स्थापित करके अभिधा के साथ जोड़ा है। अपने युक्तिबल से इन्होंने आनन्दवर्धन प्रतिपादित रस और ध्वनि के सामञ्जस्य के सिद्धान्त को बहुत कमजोर बना दिया था किन्तु आचार्य मम्मट के आने पर ध्वनि का सम्बन्ध रस के साथ पुनः स्थापित होता हुआ

दिखाई देने लगा। अपने इस विस्तृत ग्रन्थ में धनञ्जय ने नाट्यों के दोष और गुणों को नहीं बताया है और नाटकीय कविता में अलंकारों का भी कोई स्थान होता है, यह भी बताने की आवश्यकता नहीं समझी है। दशरूपक पर धनञ्जय के छोटे भाई धनिक ने अवलोक टीका लिखी है। यह टीका इस ग्रन्थ की ही व्याख्या है, इस कारण इसमें दशरूपक प्रतिपादित विषयों से अतिरिक्त और किसी काव्य के अङ्ग पर विचार करना सम्भव न था। केवल इसमें दशरूपक में बताये गये विषयों का भलीभाँति सूक्ष्मविवेचन है। भट्टनायक का हृदयदर्पण मिलता ही नहीं है किन्तु वह भी अभिधावादी आचार्य हैं।

आचार्य कुन्तक द्वारा प्रणीत वक्रोक्तिजीवित में चार उन्मेष हैं। पहले उन्मेष में काव्य प्रयोजन, काव्यलक्षण तथा षड्विधवक्रता का उल्लेख है। दूसरे उन्मेष में वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता को समझाया गया है। तृतीय में वाक्यवक्रता को समझाकर उसके भीतर अलङ्कारों का अन्तर्भाव दिखाया गया है। चौथे उन्मेष में प्रकरणवक्रता तथा प्रबन्धवक्रता को बतलाया है। इस प्रकार इस रचना में भी काव्य के रसादि तत्त्वों को छोड़ दिया गया है। दशरूपककार की भाँति यह भी अभिधावादी आचार्य हैं। यद्यपि यह लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ को मानते हैं किन्तु उसका अन्तर्भाव वाच्यार्थ में कर लेते हैं। मुकुलभट्ट, धनञ्जय, भट्टनायक और कुन्तक की भाँति महिमभट्ट भी ध्वनिविरोधी आचार्य हैं और ध्वनि के स्थान पर अभिधावृत्ति और अनुमान की स्थापना करते हैं। इन्होंने व्यक्तिविवेक नाम की कृति में ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाया है। व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में ध्वनि का खण्डन करते हुए ध्वनिकाव्य के उदाहरणों का अन्तर्भाव अनुमान के भीतर कर दिया गया है। द्वितीय विमर्श में काव्यदोषों का प्रतिपादन करते हुए अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष बताया है। अन्तरङ्ग अनौचित्य के अन्तर्गत रसदोष को माना है और बहिरङ्ग अनौचित्य में विधेयाविमर्श आदि पाँच दोषों को। तृतीय विमर्श में ध्वनि के ४० उदाहरणों को लेकर उनका अनुमान में अन्तर्भाव किया है। इस प्रकार इन्होंने अपनी सारी शक्ति ध्वनि का खण्डन करने में लगाई है। काव्य के अलंकारादि दूसरे अङ्गों की ओर तो इन्होंने देखा तक नहीं है।

औचित्यसम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र की औचित्यविचारचर्चा में ३९ कारिकायें हैं, जिनको समझाने के लिए उन्होंने श्लोकों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने बताया है कि अलंकार तभी काव्य की शोभा बढ़ाने में समर्थ होते हैं जब

उनका विन्यास उचित स्थान पर हो, नहीं तो वे केवल नाम के अलंकार रह जाते हैं। इसी प्रकार औचित्य से युक्त गुण गुणता प्राप्त करते हैं, अन्यथा वे अगुण ही हैं। जो जिसके योग्य हो आचार्य लोग उसको उचित कहते हैं, उसका भाव औचित्य है। जो जिसके अनुरूप हो वह उचित कहा जाता है, उसी के भाव को औचित्य कहते हैं। इसकी स्थिति पद वाक्यादि २८ काव्याङ्गों में रहती है।[२६] क्षेमेन्द्र प्रतिपादित इस औचित्य के सिद्धान्त पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि औचित्य सर्वथा दोषपरिहार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वस्तुत: सर्वथा दोषपरिहार तो एक प्रक्रिया का नाम है जो रसादि का अङ्ग होकर काम करती है, उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति के शरीर का रंग शरीर में रहकर ही शरीर के सौन्दर्य का कारण बनता है उसकी शरीर से पृथक सत्ता नहीं है, उसी प्रकार पदों और वाक्य का औचित्य भी शब्दार्थरूप शरीर का उपकार करता है। इस प्रकार औचित्यविचारचर्चा में भी काव्य के तत्त्वों के विषय में जिस दृष्टिकोण से विचार किया गया है, वह तत्त्वदर्शियों की बुद्धि में नहीं बैठता है। सरस्वतीकण्ठाभरण नामक रचना के पाँच परिच्छेदों में भोजराज ने काव्य के घटकतत्त्वों पर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। प्रथम परिच्छेद में वर्णित पदगत १६, वाक्यगत १६ तथा वाक्यार्थगत १६ दोष (कुल ४८ दोष) माने हैं और शब्द तथा अर्थ दोनों के २४-२४ गुण बताये हैं। अगले परिच्छेदों में शब्दालङ्कारों, अर्थालङ्कारों, रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का वर्णन है। किन्तु इस ग्रन्थ में ध्वनि के विषय में मम्मट जैसे परिष्कृत विचारों का अभाव है। दोषों का विवेचन भी मम्मट की अपेक्षा थोड़े विस्तार से है। भोजराज की दूसरी कृति शृङ्गार प्रकाश है इसमें ३६ प्रकाश हैं। यह ग्रन्थ भी मम्मट के काव्यप्रकाश की भाँति सर्वाङ्गीण है। इसके पहले आठ प्रकाशों में शब्द तथा अर्थों के सम्बन्ध में वैयाकरणों के मत प्रदर्शित किये हैं। नवम और दशम में गुण और दोष बताये हैं। ग्यारहवें और १२ वें प्रकाश में महाकाव्य तथा नाटक के विषय में बताया है। १३ से लेकर ३६ वें प्रकाश तक रसों के स्वरूप को उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। विपुल विषयसामग्री की दृष्टि से भोजराज का शृङ्गार प्रकाश ही काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मम्मट के काव्यप्रकाश के साथ समता कर सकता है किन्तु ध्वनि सम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना की दृष्टि से आचार्य मम्मट का योगदान अधिक है। इसके अतिरिक्त भोजराज की कृति में उस सूत्रशैली को समूचे ग्रन्थ में नहीं अपनाया गया है जिसे आचार्य मम्मट ने आदि से अन्त तक निबाहा है। नाटकीय कथावस्तु, रूपकों के भेद और नायकनायिकाभेद के सम्बन्ध में काव्यप्रकाश में विचार नहीं किया

गया है किन्तु वह एक तो नाट्यशास्त्र का विषय है दूसरे काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रसनिष्पत्तिप्रक्रिया और रसों के भेदों प्रभेदों और ध्वनिभेदों के निरूपण से यह कमी कुछ सीमा तक पूरी हो जाती है। इस प्रकार आचार्य मम्मट के ग्रन्थ में संक्षेप से काव्य के लगभग सभी तत्त्वों का समावेश हो गया है। अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के सिद्धान्तों में से उपयोगी सामग्री को लेकर इन्होंने सफलतापूर्वक अपने ग्रन्थ में रखा है। विषयप्रतिपादन की दृष्टि से उन आचार्यों के मतों में जो न्यूनतायें या त्रुटियाँ रह गई थीं, उन्हें दूर कर दिया गया है।

७. समन्वयवादी दृष्टिकोण—आचार्य मम्मट की सर्वोपरि विशेषता इनका समन्वयवादी दृष्टिकोण है। आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि ने इनकी तुलना एक मधुमक्षिका के साथ करते हुए कहा है—"किसी भी महती कृति के लिए श्रम और कला दोनों की आवश्यकता होती है। मधुमक्षिका विविध पुष्पों का मधु सञ्चय करके लाती है, यह उसका श्रमपक्ष है पर उसको अपने छत्ते में किस प्रकार सजाकर संभालकर रखती है, यह उसका कलापक्ष है। मधुमक्खी के छते की रचना उसके मधु से कम आनन्ददायक नहीं है। मधु रसना को तृप्त करता है तो छत्ता दृष्टि को। दोनों का अपना सौन्दर्य है, दोनों की अपनी उपयोगिता है और दोनों की अपनी कला है। मधुमक्षिका का यह श्रम और कलात्मक प्रवृत्ति दोनों ही सराहना प्राप्त करती हैं। काव्यप्रकाश की मधुमक्षिका मम्मट की भी यही स्थिति है। उन्होंने एक सहस्र वर्ष के दीर्घकाल में फैले हुए विस्तीर्ण साहित्योद्यान के सैकड़ों सुन्दर पुष्पों से मधु सञ्चय करने में जो श्रम किया है, वह तो प्रशंसनीय है ही पर उसके साथ ही उसको जिस रूप में सजाकर काव्यप्रकाश में उपस्थित किया है, वह उनकी कलात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है। काव्यप्रकाश में दस उल्लास है, उनमें प्रतिपाद्य विषय या सञ्चित मधु को इस प्रकार सजाकर रखा गया है कि बस देखते ही बनता है।"[२७] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य मम्मट में सङ्ग्राहक बुद्धि के साथ साथ सजाने संवारने की चातुरी भी दिखाई देती है। काव्यप्रकाश की बहुत कम सामग्री सर्वथा मौलिक कही जा सकती है। अधिकांश सामग्री पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से संगृहीत की गई है। चुन चुन कर चयन की गई विषयवस्तु को पहले मम्मट ने स्वयं समझा है फिर इन्होंने उसे समन्वित रूप में अपने ग्रन्थ में स्थान दिया हैं। अग्निपुराण में जो अलङ्कारों और रस आदि की सामग्री

दिखाई देती है दण्डी के काव्यादर्श में उसी रूप में अथवा थोड़े परिवर्तन के साथ ले ली गई है किन्तु मम्मट ने किसी भी आचार्य के मत को शब्दश: नहीं लिया है। पूर्वपक्ष के रूप में कहीं कहीं दूसरे आचार्यों के मतों को उनके शब्दों में रखा है, वहाँ तो ऐसा करना आवश्यक होता है। किन्तु अन्य स्थलों पर इन्होंने दूसरे मतों और अपने मत को अपने ही शब्दों में रखा है। सभी उपयोगी ग्रन्थों का संग्रह और समन्वय होने से इस एक ग्रन्थ को पढ़ लेने से ही काव्यशास्त्र सम्बन्धी सारे विषयों एवं उनके सम्बन्ध में अनेक आचार्यों के अनेक मतों का ज्ञान हो जाता है। प्रथम उल्लास में ध्वनि के विषय में वैयाकरण एवं साहित्यिक मत हैं तो द्वितीय उल्लास में अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद एवं संकेतग्रह के सम्बन्ध में साहित्यिक, मीमांसक, नैयायिक एवं बौद्धों के मत दिखाये गये हैं।[२८] इसी उल्लास में 'गौरयम्' आदि गौणी साध्यवसाना के उदाहरणों में लक्षणा वृत्ति से बोध्य लक्ष्य अर्थ क्या है? इस विषय में विभिन्न आचार्यों के तीन मत दिखाये हैं।[२९] विशिष्ट में लक्षणा मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करते हुए मीमांसकों के ज्ञातता और नैयायिकों के अनुव्यवसायसिद्धान्त को उपस्थित किया है।[३०] चतुर्थ उल्लास में रसनिष्पत्तिप्रक्रिया के सन्दर्भ में भट्टलोल्लट, श्रीशंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्तपाद इन चारों आचार्यों के मतों को दिखाया हैं।[३१] ध्वनि की स्थापना करने के लिए आचार्य मम्मट को पाँचवें उल्लास में बहुत श्रम करना पड़ा है और वहाँ बहुत सारे आचार्यों के मत देखने को मिलते हैं।

मम्मट का अपना एक विशाल दृष्टिकोण है। यह किसी भी आचार्य को सर्वथा गलत नहीं मानते हैं और किसी के मत का खण्डन करते हुए यह संयत भाषा का प्रयोग करते हैं। 'तददोषौ' इत्यादि काव्यलक्षण में इन्होंने काव्य के सभी आवश्यक तत्त्वों को अपने लक्षण में स्थान दिया है। कविता में अलङ्कार, दोषराहित्य, रस और गुणों का होना अपेक्षित है और रस आत्मस्थानीय है। इसकी तुलना में अलङ्कार या रीति या रस को ही काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य अतिवादी हैं और पूर्वाग्रहों से ग्रस्त हैं। अलङ्कार को काव्य की आत्मा बताने वालों को संकुचित न समझ कर उनके अलङ्कार शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाना चाहिए। 'चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम्' से यही अभिप्राय निकलता है कि जो भी चमत्कार को उत्पन्न करे वह अलङ्कार है। कहीं यह कार्य उपमादि अलङ्कार करते हैं तो कहीं रसध्वनि, गुण और रीतियाँ करती हैं। मम्मट ने इन तत्त्वों को गौण प्रधानभाव प्रदान करके सभी पूर्वप्रचलित

सम्प्रदायों का अपने मत में अन्तर्भाव किया है। काव्यलक्षण के अदोषी विशेषण में औचित्यसम्प्रदाय का अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि औचित्य के अन्दर दोषराहित्य की भावना प्रमुख रूप से निहित है। सगुणौ के भीतर रीति सम्प्रदाय आ जाता है क्योंकि गुण और रीतियों में अभेद सम्बन्ध है। यहाँ गुण के साथ ही रस का भी आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है, इस कारण रससम्प्रदाय का भी ग्रहण हो जाता है। लाघव के कारण यहाँ सूत्रशैली से गुण रूप धर्म का उपादान कर दिया गया है। धर्मी रस का ग्रहण धर्म से स्वतः हो जाता है। अनलंकृती पुनः क्वापि से अलङ्कार सम्प्रदाय का समावेश किया गया है। षष्ठोल्लास में भामह के ३ श्लोक मम्मट ने उद्धृत किये हैं, जिनमें भामह ने कहा है कि कुछ लोग रूपक आदि अर्थालङ्कारों को ही प्रधान अलङ्कार मानते हैं और शब्दालङ्कारों को अलङ्कार नहीं मानते हैं। दूसरे लोग रूपकादि अर्थालङ्कारों की प्रतीति क्योंकि अर्थ प्रतीति के बाद होती है इसलिए उनको गौण अलङ्कार कहते हैं और शब्दालङ्कारों की प्रतीति काव्य के सुनते ही हो जाती है इसलिए उन्हीं को प्रधान अलङ्कार मानते हैं किन्तु हम को तो शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार, यह दोनों ही भेद पसन्द हैं।[३२] ठीक यही दृष्टिकोण आचार्य मम्मट का है। वह काव्यप्रकाश को समाप्त करते हुए अन्तिम श्लोक में अपनी इसी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं—इस भाँति भामह, वामन, उद्भट, आनन्दवर्धन आदि प्राचीन विद्वानों का रससम्प्रदाय, ध्वनिसम्प्रदाय, रीति-सम्प्रदाय, अलङ्कारसम्प्रदाय आदि रूप से भिन्न भिन्न प्रभासित होने वाला यह काव्यनिरूपणमार्ग भी जो इस ग्रन्थ में समन्वित रूप में निरूपित होकर अभिन्न सा लग रहा है यह कोई विचित्र बात नहीं है क्योंकि भले ढंग से समन्वय करने की भावना से की हुई रचना ही इसका कारण है।[३३] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मम्मट को भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में मतभेद और अतिवाद दिखाई पड़ता था। अलङ्कार को काव्य की आत्मा मानने वाले भामह और दण्डी थे तो 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस मत को वामन मानते थे। कुन्तक वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा मानते थे तो आनन्दवर्धन ने काव्यस्यात्मा ध्वनिः के सिद्धान्त को और भरत मुनि ने रससिद्धान्त को स्थापित किया था। किन्तु आचार्य मम्मट ने इन सभी का समन्वय अपने काव्य लक्षण में कर दिया है। अधिकांश आचार्यों ने या तो दूसरे आचार्यों के मतों को अपनी रचना में स्थान ही नहीं दिया है यदि दिया भी है तो उनकी अन्तर्निहित भावना को न समझते हुए मखौल में उड़ा दिया है। साहित्यदर्पण

में मम्मट के उत्तरवर्ती विश्वनाथ ने मम्मट के काव्यलक्षण के उस अर्थ को लेकर खण्डन किया है, जो मम्मट का बताया हुआ नहीं है। काव्यलक्षण के अदोषौ पद का विश्वनाथ ने अभाव और अल्प अर्थ लेकर खण्डन किया है जब कि आचार्य मम्मट के मत में अदोषौ के नञ् उपसर्ग का अप्राशस्त्य अर्थ है। मम्मटाचार्य पूरी ईमानदारी के साथ दूसरे के मत को पहले समझने का प्रयत्न करते हैं, उसके बाद यदि उसका खण्डन भी करना पड़ता है तो संयम और शालीनता बरतते हैं। विश्वनाथ अथवा पण्डितराज जगन्नाथ की तरह दूसरों को पूरी तरह मूर्ख सिद्ध करके ज़लील करना उनका उद्देश्य नहीं रहता और न ही उनकी तरह खण्डनोपरान्त उन्हीं आचार्यों की सामग्री को लेकर इन्होंने अन्यत्र अपने ग्रन्थ में थोड़े से परिवर्तन के साथ रखा है।

मम्मट का काव्यप्रकाश जहाँ उपर्युक्त विशेष गुणों से भरपूर है वहाँ इसमें कई दोष भी आ गये हैं। सूत्रशैली को ही इस ग्रन्थ में आदि से अन्त तक अपनाया गया है, इस कारण इसमें क्लिष्टत्व दोष आ गया है। काव्यप्रकाश की इस क्लिष्टता और दुरूहता के कारण इसके टीकाकारों की कठिनाई बढ़ जाती है क्योंकि इन्हें एक स्थल को स्पष्ट करने के लिए कई ग्रन्थों में कई स्थानों पर देखना पड़ता है। बिना किसी प्रकार का संकेत दिये हुए अधिकांश स्थलों पर जिस सामग्री को रखा है वह अत्यन्त संक्षिप्त होने के कारण टीकाकारों तथा पाठकों दोनों के लिए अस्पष्ट और दुरूह हो गई है। इसी कारण एक ही स्थल की किसी टीकाकार ने किसी ढंग से व्याख्या की है दूसरे ने अपने और ढंग से व्याख्या की है। योग्यतम टीकाकार को भी सभी स्थानों पर सभी बातों को स्पष्ट करना कठिन हो गया है। रसनिष्पत्ति जैसे स्थलों को और भी स्पष्टता और विस्तार के साथ लिखा जा सकता था। इसकी क्लिष्टता को देखकर महेश्वर भट्टाचार्य ने कहा है—'यद्यपि काव्यप्रकाश की टीकायें घर घर दिखाई देती हैं तथापि यह पहले की ही भाँति वैसा ही दुरूह है।'[३४] कहीं कारिका भाग में स्पष्टता है तो वृत्तिभाग कठिन हो गया है। कहीं वृत्तिभाग में स्पष्टता है तो कारिकायें अस्पष्ट हो गई हैं। सच्ची बात तो यह है कि बिना किसी टीका की सहायता के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को समझा ही नहीं जा सकता है। चतुर्थ उल्लास में व्यञ्जना को स्पष्ट करने के लिए जो उदाहरण दिये हैं वह सब शृंगाररस के हैं (इन्हें शृंगाररस नाम न देकर शृंगाराभास कहना अधिक उपयुक्त होगा) जिससे यह भ्रान्ति होने लगती है कि मानों शृंगारातिरिक्त

और किसी रस में व्यञ्जकता होती ही नहीं। साथ ही जो उदाहरण दिये हैं उनमें कहीं कहीं औचित्य का अतिक्रमण हो जाता है। इस कारण अश्लीलत्व दोष आ जाता है। कई उदाहरणों में देवताविषयक रति आने से कई उदाहरणों में देवता विषयक यह अश्लीलत्व अनौचित्य की चरमसीमा तक पहुँच गया है।[३५] काव्यप्रकाश में सबसे अधिक कमी इस बात की खटकती है कि इसमें रूपकों के भेद और नायकनायिकाभेद नहीं हैं और न ही नाट्यों के सन्धि, प्रस्तावना, अंक आदि विविध अंगों के विषय में विचार है क्योंकि रस की सृष्टि का आधार तो रूपक ही हैं। धर्मी के ज्ञान के बिना धर्मों का ज्ञान अधूरा रहता है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं मम्मट अपने विरोधियों के प्रति मानसिक सन्तुलन खो बैठे हैं।[३६] जो उनके गौरव के अनुरूप नहीं है। परन्तु इनके यह दोष इनकी उपरिलिखित विशेषताओं की तुलना में नगण्य हैं। जैसे चन्द्रमा की किरणों में उसका कलङ्क छिप जाता है और पूर्णचन्द्र सबके लिए आह्लादजनक होता है, वैसे ही आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाशरूपी चन्द्र के प्रकाश में यह दोष रूपी कलंक छिपे रहते हैं। इनके ग्रन्थ के प्रकाश में जहाँ विरोधियों के लिए सूर्य की किरणों जैसी प्रखरता है, वहाँ साहित्यानुरागियों के लिए चन्द्रकिरणों की सी शीतलता है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि जिस विद्वान् ने काव्यप्रकाश का गम्भीर अध्ययन कर लिया है वह भारतीय काव्यशास्त्र के किसी भी ग्रन्थ को समझने की क्षमता रखता है। इन सब कारणों से भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं सम्मानास्पद स्थान है।

भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन, कुन्तक आदि सम्प्रदायविशेष के प्रवर्तक तथा मौलिक विचारों को प्रस्तुत करने वाले आचार्यों की पंक्ति में तो आचार्य मम्मट को स्थान नहीं दिया जा सकता क्योंकि आचार्य मम्मट ने अपना कोई नया सम्प्रदाय नहीं चलाया है। किन्तु इन आचार्यों की कतार से बाहर आचार्य मम्मट अपने समन्वयवादी तथा निर्भ्रान्त दृष्टिकोण को लिए हुए जहाँ खड़े हैं वहाँ कोई दूसरा आचार्य उनके साथ खड़ा होने की क्षमता नहीं रखता है। इस कारण काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य मम्मट की स्थिति दूसरे आचार्यों से पृथक् प्रकार की है। उन जैसा समन्वयवादी आचार्य और कोई नहीं है। उनके उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इन्हीं जैसा संग्राहक और समन्वयवादी बनने का यत्न तो किया है किन्तु वह न तो वैसी प्रतिभा का

परिचय दे सके हैं और न ही मम्मट की तरह सूत्र शैली से गम्भीर विषयों को प्रस्तुत कर पाये हैं। कहीं कहीं पर उन्होंने मम्मट के विचारों को बिना आत्मसात् किये थोड़े से हेर फेर से रख दिया है।[३७] इस कारण समन्वयवादी आचार्यों में आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोपरि है और भामह और दण्डी जैसे मौलिक किन्तु स्थूल विषयों के चिन्तकों से निस्सन्देह ऊपर है तथा वामन, रुद्रट, कुन्तक, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, भोजराज जगन्नाथ जैसे आचार्यों के समकक्ष है। किन्तु यदि सभी गुणों की दृष्टि से देखा जाय तो आचार्य मम्मट कहीं कहीं किसी किसी बात में प्रत्येक आचार्य से बाजी मार लेते हैं। काव्यों में सर्वाङ्गसुन्दर होने से जो स्थान बाणरचित कादम्बरी को प्राप्त है वही स्थान काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश को दिया जा सकता है। जैसे कादम्बरी में रस, अलङ्कार और कथावस्तु का सन्तुलित समन्वय देखने में आता है वैसे ही काव्यप्रकाश में रस, अलङ्कार और अन्य काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की सन्तुलित चर्चा है।

मम्मट के काव्यप्रकाश को आलोचना करते हुए हिन्दी आलोचना क्षेत्र के आचार्य डा० श्यामसुन्दरदास ने साहित्यालोचन में कहा है—"मम्मट के समान व्यवस्थित और व्यवहारोपयोगी व्याख्या करने वाला दूसरा नहीं हुआ। साथ ही विद्वानों के लिए उनके ग्रन्थ में बड़े-बड़े दर्शनों का सारतत्त्व भी मिल जाता है। इसीसे मम्मट का काव्यप्रकाश भारतीय आलोचना के ग्रन्थों में प्रामाणिक माना जाता है।"[३८] मम्मट के स्थान को निर्धारित करते हुए डा० सुशील कुमार दे कहते हैं—'क्योंकि इसमें सर्वांगीणता और संक्षेप इन दोनों गुणों का समन्वय है इस कारण इसकी संस्कृत काव्यशास्त्र एवं अलङ्कार-शास्त्र के उच्च श्रेणी के उन ग्रन्थों में गणना है जिन्हें सारे भारतवर्ष में अत्यन्त प्रामाणिक एवं लोकप्रिय माना जाता रहा है। इसमें काव्यशास्त्र सम्बन्धी पूर्वप्रचलित विचारों का सूत्रशैली से समावेश किया गया है और उनको विशद व्याख्या भी की गई है इस कारण इसने एक ओजस्वी पाठ्यपुस्तक का रूप धारण किया है और यह असंख्य व्याख्यात्मक टीकाओं और पाठ्यग्रन्थों का आरम्भबिन्दु बन गया है। इन्ही कारणों से संस्कृत अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में काव्यप्रकाश को अद्वितीय स्थान प्राप्त है।[३९] डा० पी० वी० काणे ने भी इसीसे मिलते-जुलते विचार प्रकट किये हैं—'काव्यशास्त्र के क्षेत्र में शताब्दियों से प्रचलित मतों का इसमें सार आ गया है और यह स्वयं अनेक

सिद्धान्तों के विकास का मूलस्रोत बना है। वेदान्त में शारीरकभाष्य और व्याकरण में महाभाष्य की भाँति काव्यशास्त्र में काव्यप्रकाश भी भावीभाष्यों और व्याख्याओं का उद्गम बन गया है। इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण गुण यह भी है कि यह विवेचनपूर्ण और सर्वांगीण होने के साथ साथ संक्षिप्त भी है। इसमें कुल १४२ कारिकायें (जिन्हें प्राय: सूत्र कहा जाता है) हैं, और इनमें काव्यशास्त्र के सभी अङ्गों का विवेचन आ गया है।[४०] डा० आर० सी० द्विवेदी ने कहा कहा है—'आचार्य मम्मट का काव्यप्रकाश संस्कृतकाव्यशास्त्र का उच्च श्रेणी का पाठ्यग्रन्थ है। अलङ्कारशास्त्र के बहुत सारे विद्यार्थियों के लिए यह गीता और बाइबिल है। इसमें न तो कहीं किसी नये आलोचनासिद्धान्त की वकालत मिल सकती है और न ही कहीं ग्रन्थकार ने अपने विचारों को रखा है। इस सबके बावजूद भी पाठकों के मध्य इसका अप्रतिम स्थान है एवं इसे सर्वप्रियता प्राप्त है। आज के दिन तक भी लिखी जाने वाली इस ग्रन्थ सम्बन्धी टीकायें भारतीय सौन्दर्यशास्त्र एवं काव्य शास्त्र के क्षेत्र में इसके स्थान वैशिष्ट्य को प्रमाणित कर रही हैं।[४१] प्रसिद्ध आलोचक श्री बलदेव उपाध्याय ने इसके सम्बन्ध में लिखा है—यह ग्रन्थ नितान्त प्रौढ, सारगर्भित तथा पाण्डित्यपूर्ण है। ध्वनिमार्ग का इससे सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं। इसके ऊपर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। इसलिए विश्वनाथ कविराज जैसे मौलिक ग्रन्थों के रचयिता विद्वानों ने भी इस पर व्याख्या लिखना परम प्रतिष्ठा माना।[४२] डा० राजकिशोरसिंह का कथन है—भारतीय काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं, इनमें काव्यप्रकाश का अपना विशिष्ट महत्त्व है। अलङ्कारशास्त्र का यह प्रकाशमान रत्न अपनी दिव्य आभा से सैकड़ों वर्षों से निरन्तर आलोकदान कर रहा है। इसके आलोक ने अनेक परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों का मार्ग प्रशस्त किया है। शताब्दियों से चलने वाले काव्यसम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णयात्मक रूप इसी ग्रन्थ ने प्रस्तुत किया है। काव्य का लक्षण, काव्य के हेतु एवं प्रयोजन, शब्दशक्ति व्यञ्जना की स्थापना, रससिद्धान्त और रस की अलौकिकता, ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा, ध्वनि के आधार पर काव्य के भेदों की चर्चा, रसदोष, गुण एवं अलङ्कार आदि के सम्बन्ध में जो मान्यतायें आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में प्रतिपादित की हैं वे लगभग उसी रूप में आज भी मान्य हैं। यह लक्ष ग्रन्थ परवर्ती अलङ्कारशास्त्रियों का उपजीव्य ग्रन्थ है। ....मम्मट का यह ग्रन्थ पूर्ववर्ती आचार्यों के मन्तव्यों का एक संग्राहक ग्रन्थ है किन्तु मम्मट में अपना

विचार स्वातन्त्र्य एवं अपनी मौलिकता है। उनकी खण्डन-मण्डनात्मक पद्धति को देखकर उनकी प्रौढ चिन्तनशक्ति, प्रतिभा एवं साहित्यमर्मज्ञता का पता चलता है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता अलङ्कारशास्त्र में चलनेवाली अराजकता का समाधान हैं।[४३]

—:०:—

(१) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥

आत्मन एव हि यथा शौर्यादयो नाकारस्य तथा रसस्यैव माधुर्यादयो गुणा न वर्णानाम्। .....माधुर्यादयो रसधर्माः समुचितैर्वर्णैर्व्यंज्यन्ते न तु वर्णमात्राश्रयाः।

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥

ये वाचकवाच्यलक्षणाङ्गातिशयमुखेन मुख्यं रसं सम्भाविनमुपकुर्वन्ति ते कण्ठाद्यङ्गानामुत्कर्षाधानद्वारेण शरीरिणोऽपि उपकारका हारादय इवालङ्काराः।

काव्यप्रकाश ८,६६-६७ एवं वृत्तिभाग

(२) न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थः प्रवर्तते। नाट्यशास्त्र १,३१ वृत्तिभाग।

(३) विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। वहीं वृत्तिभाग।

(४) (क) यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

ध्वन्यालोक १,१३

(ख) इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः॥

काव्यप्रकाश १,४

(५) (क) ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।
तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।

ध्वन्यालोक १,१३ पर वृत्तिभाग।

(ख) बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।

(६) काव्यप्रकाश १,२ इदमुत्तम......निःशेषच्युत० अत्र नास्ति स्फुटः...।

(७) (क) रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। काव्यप्रकाश ५,४७ वृत्तिभाग।

(ख) प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। तथा च गतोऽस्तमर्कः...इत्यादि। वहीं वृत्तिभाग

(८) कस्तस्य स्तुतिमाचरेत्कविरहो को वा गुणान् वेदितुं
शक्तः स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिणः।
श्रीमान् कैयट औवटो ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो
भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः ॥६॥

वामनाचार्य झलकीकरकृत काव्यप्रकाश टीका प्रस्तावना पृ० ७
(१८४३ शकाब्द चतुर्थ संस्करण भण्डारकर सिरीज़)

(९) किं चायं मम्मटो भीमसेनेन सुधासागरे वाग्देवतावतारत्वेन वर्णितः। अपि च तत्रैव सुधासागरे काव्यप्रकाशस्य शैथिल्यमापादयन्तं गोविन्दठक्कुरकृतं काव्यप्रदीपं युक्तिप्रत्युक्तिभिः खण्डयित्वा स्वमतरीत्या काव्यप्रकाशस्य निष्कलङ्कत्वं संस्थाप्योक्तं भीमसेनेन "तस्माद् गोविन्दमहामहोपाध्याना-मीर्ष्यामात्रमवशिष्यते न हि गीर्वाणगुरवोऽपि श्रीवाग्देवतावतारोक्ति (मम्मटो-क्तिम्) आक्षेप्तुं प्रभवन्ति किं पुनर्मानुषा मशकाः। वहीं पृ० ८

(१०) काव्यप्रकाश १, ४

(११) नाट्यशास्त्र १, ३१ वृत्तिभाग

(१२) काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते। काव्यादर्श १, १

(१३) रीतिरात्मा काव्यस्य। काव्यालङ्कारसूत्र १, १

(१४) शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि। बन्धे...। वक्रो० १, १

(१५) काव्यप्रकाश १, ४-५

(१६) वहीं ८, ६६—६७

(१७) वहीं २, १४-१८

(१८) गौरनुबन्ध्यः... पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते। वहीं २, १० वृत्तिभाग

(१९) अनन्वितोऽर्थो...वाक्यार्थः। वहीं ५, ४७ वृत्तिभाग

(२०) नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इति। यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति। वहीं वृत्तिभाग

(२१) सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः।...न च लक्षणात्मकमेव ध्वननम्। वहीं वृत्तिभाग

(२२) अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः । वाक्यमेव च वाचकम् । वहीं वृत्तिभाग

(२३) वहीं वृत्तिभाग

(२४) वहीं १, ४ वृत्तिभाग

(२५) वहीं २, ८ वृत्तिभाग, यद्यप्यर्थक्रियाकारितया...युज्यते; ५,४७
वृत्तिभाग—विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

(२६) उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणा गुणाः ॥
उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते ॥
पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे ....

औचित्यविचारचर्चा । कारिका ६-१०

(२७) काव्यप्रकाश की आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि कृत हिन्दी व्याख्या, भूमिका पृ० ७५ (वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९६०)

(२८) काव्यप्रकाश १, ४ वृत्तिभाग; २, ६ तथा वृत्तिभाग; २, ८ तथा वृत्तिभाग

(२९) वहीं २, १२ वृत्तिभाग

(३०) वहीं २, १८

(३१) वहीं ४, २७-२८ वृत्तिभाग

(३२) रूपकादिर०...शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥

वहीं ९, ४८ वृत्तिभाग

(३३) इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नो-
ऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत् ।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यग्
विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः ॥ वहीं १०, १४२ वृत्तिभाग

(३४) काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे
टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः ॥

काव्यप्रकाश टीका वामनाचार्य झलकीकर प्रस्तावना पृ० २०
(१८४३ शकाब्द)

(३५) (क) रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य ।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥

वहीं ४, ४३ पर ९७ श्लोक

(ख) विपरीतरते लक्ष्मी ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम् ।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति स्थगयति ।।

वहीं ५, ४७ पर १३७ श्लोक

(३६) ये त्वभिदधति...तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानां प्रियाः ।

वहीं ५, ४७ वृत्तिभाग

(३७) (क) मुख्यार्थबाधे तद्‌योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया ।।

काव्यप्रकाश २, ९

(ख) मुख्यार्थबाधे तद्‌युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढ़ेः प्रयोजनाद् वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ।।

साहित्यदर्पण २, ५

(३८) साहित्यालोचनः डा० श्यामसुन्दरदास (मम्मट का सन्दर्भ)

(३९) As it con bines the merit of fulness with that of conciseness it became one of the classic works of Sanskrit Poetics and Rhetoric which has always maintained a great authority and popularity throughout India. It sums up and explains in the succint form of a brilliant text book all the previous speculations on the subject, becoming in its turn the starting point of endless exegectic works and textbooks. As such it occupies a unique position in the history of Sanskrit Alamkara hiterature.

History of Sanskrit Poetics: S. K. De Vol. I (Calcutta 1960) p. 154

(४०) संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास : पी०वी० काणे (अनुवादक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री (प्रथम संस्करण १९६६, दिल्ली) पृ० ३३२

(४१) The Kavya Prakash of Mammata is a classic text of Sanskrit Poetics. It is the Gita and the Bible of many a student of Alankarashastra.

It does hardly advocate any new principle of literary criticism, nor does it establish any academy of its own. And yet it enjoys universal popularity amongst the readers. Innumerable commetaries, written to this day, testify to its outstanding place in the field of Indian Aesthetics and Poetics. The Poetic Light : Dr. R.C. Dvivedi, Vol. Preface V (Delhi 1966)

(४२) संस्कृत साहित्य का इतिहास: बलदेव उपाध्याय पृ० ६३६ (वाराणसी १९६० षष्ठ संस्करण)

(४३) आचार्य मम्मट और काव्यप्रकाश: डा० राजकिशोर सिंह (आगरा १९७१) प्राक्कथन पृ० १

—:०:—

ऋग्वेद में भाषा-तत्त्व

भाषा अथवा वाक् जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। मन्त्र-द्रष्टा वैदिक ऋषियों ने वाक् की उत्पत्ति तथा स्वरूप के विषय में जो सामग्री प्रस्तुत की है, उसे भाषाविज्ञान की आधारशिला कहा जा सकता है। वाक् के विस्तृत क्षेत्र का उल्लेख करते हुए ऋग्वेद के दशम मण्डल के ११४वें सूक्त के आठवें मन्त्र में कहा गया है कि वाक् की महिमा सहस्र प्रकार की अर्थात् अनन्त है। जहाँ तक ब्रह्म का विस्तार है, वहां तक वाक् का प्रसार है।

'सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्'।

ऋग्वेद के दशम मंडल के १२५वें सूक्त में वागाम्भृणी की अपने सम्बन्ध में कही उक्तियों से भी वाक् की विशालता और सर्वव्यापकता का पता चलता है—

"वह द्युलोक तथा पृथिवी में संचरण करती है"[1]।

"सब भुवनों में वायु के समान विचरण करती है और अपनी महिमा से इस पृथिवी के भी परे तथा द्युलोक के भी परे पहुँच जाती है।"[2]

प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त में ऋग्वेद का ऋषि वाक् के मूल कारण के विषय में प्रश्न उपस्थित करके उसके उत्तर में परम ब्रह्म को उसका कारण बतलाता है।

"मैं तुम से पूछता हूँ—पृथिवी का अन्त कहां है? संसार का उत्पत्ति-स्थान क्या है? सेचन समर्थ अश्व का रेतस् क्या है? वाणी का परम स्थान क्या है?"[3]

"यह यज्ञ-वेदी ही पृथिवी का अन्त है। यह यज्ञ ही संसार की नाभि है। यह सोम ही सेचन समर्थ अश्व का रेतस् है और यह ब्रह्मा ही वाणी का परम स्थान है।"[4]

पञ्चमहाभूतों पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश में आकाश या शब्दतत्त्व ही सूक्ष्मतम है और सूक्ष्मतम शब्दाणु निरन्तर स्पन्दनशील होते हैं। यह स्पन्दन या क्रिया-शीलता ही सम्पूर्ण सृष्टि का मूल है। इसीलिए अक्षरब्रह्म

का महत्त्व जतलाते हुए वैदिक ऋषि ने कहा है कि 'जो इसे नहीं जानता वह ऋचा से क्या करेगा? ऋचाएँ इसी अक्षरब्रह्म पर आधारित हैं[५]।' 'समुद्र वाक् से ही प्रवाहित होते हैं, चारों दिशायें वाक् से जीवित हैं, अव्यक्त अक्षर उसीसे व्यक्त होता है तथा सम्पूर्ण विश्व उसीसे प्राणधारण करता है'।[६] 'परमाकाश में व्याप्त सहस्राक्षरा अर्थात् अनन्त वाक् तो अव्यक्त होती है, परन्तु वही फिर एकपदी, द्विपदी, चतुष्पदी, अष्टपदी, नवपदी होकर व्यक्त होती हैं।[७] सम्पूर्ण ज्ञान का मूलस्रोत शब्दब्रह्म है। अव्यक्त शब्दचित्र अथवा भावचित्र, जो हमारे अन्तःकरण में सूक्ष्म रूप से सर्वदा बने रहते हैं वही प्राण तथा वागिन्द्रियों की क्रिया द्वारा स्थूल रूप धारण करते हैं।

अव्यक्त शब्द-तत्त्व के व्यक्त होने की प्रक्रिया ही भाषाविज्ञान का प्रधान विषय है और ऋग्वेद का वाक्सूक्त तथा कुछ अन्य मन्त्र इस प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६४वें सूक्त के ४५वें मन्त्र में इस प्रक्रिया के चार चरणों का स्पष्ट उल्लेख है :—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

वाणी के चार चरण मापे गये हैं। मनीषी ब्राह्मण उन्हें जानते हैं। उनमें से तीन गुहा में निहित हैं अर्थात् प्रकट नहीं हैं। चतुर्थ चरण को मनुष्य बोलते हैं।

वाक् के इस चतुर्थ व्यक्त चरण को शतपथब्राह्मण में निरुक्त तथा अनिरुक्त इन दो वर्गों में रखा गया है। 'निरुक्त वाक् तो मनुष्यों द्वारा बोली जाती है और अनिरुक्त वाक् को पशु, पक्षी तथा कीट पतंग उच्चारित करते हैं'[८]।

अब प्रश्न यह है कि ऋग्वेद में वर्णित वाक् के इन चार चरणों में प्रथम तीन चरण कौन से हैं। सायणभाष्य में इन चार पदों को परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी बताया गया है। पतंजलि के महाभाष्य में इन चार पदों को नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात—भाषा के इन चार अंगों का प्रतिनिधि माना गया है। पतंजलि की यह व्याख्या तर्कसंगत नहीं है क्योंकि भाषा के ये चारों अंग व्यक्त होते हैं। "गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति" इन पर लागू नहीं हो सकता। चत्वारि पदानि का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ही उचित है क्योंकि नामोल्लेख किये बिना इन्हीं अवस्थाओं का वर्णन ऋग्वेद के वाक्सूक्त

में भी मिलता है। मूलाधार से उत्पन्न एक नादरूप वाक् परा कहलाती है, हृदयगामिनी होने पर वही पश्यन्ती होती है। बुद्धि को प्राप्त होने पर वह मध्यमा कहलाती है और मुख में आकर तालु, ओष्ठ आदि वागिन्द्रियों से उच्चरित वाक् का नाम वैखरी है। इस प्रकार वैखरी वाक् ही उच्चारण का विषय तथा श्रोत्र का विषय है।

ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ७१वें सूक्त में वाक् की उत्पत्ति की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है। प्रथम मन्त्र में ही कहा है कि किसी भी वस्तु का जो नाम लिया जाता है उसकी प्रेरणा का स्रोत तो गुहा में निहित है। अनन्त शब्दचित्र या भावचित्र मनुष्य के अन्तःकरण में निहित हैं। आत्माभिव्यक्ति की इच्छा होते ही वे चित्र उभरने लगते हैं और फिर वहाँ उन्हें छाँटने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वैदिक ऋषि के शब्दों में 'धीर लोग मन द्वारा इन भावचित्रों को उसी प्रकार छाँटते छानते हैं जैसे सूप से सतुओं को छाना जाता है। अन्तिम स्थिति में छाने हुए वे भाव-चित्र सात स्वरों के माध्यम से प्रकट होते हैं'[९]। इस प्रकार वक्ता की दृष्टि से प्रथम स्थिति तो परा वाक् की है, जिसमें शब्दाणु अव्यक्तरूप में विद्यमान होते हैं। पश्यन्ती अवस्था में आत्माभिव्यक्ति की इच्छा हृदय में होती है, पर वह इच्छा अव्यक्त ही होती है। तत्पश्चात् बुद्धि का कार्य आता है, तब प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन होता है। अन्तिम स्थिति में इन्द्रियाँ कार्य करती हैं, तब प्राण की सहायता से विभिन्न ध्वनियों को उत्पन्न किया जाता है। इसी अवस्था में वाक् व्यक्त रूप में प्रकट होती है। यह व्यक्त रूप उच्चरित हो या लिखित, इस का प्रयोजन होता है दो या दो से अधिक व्यक्तियों के मध्य विचारों का आदान-प्रदान। वक्ता की बुद्धि में स्थित आशय ग्रहीता द्वारा उसी रूप में ग्रहण कर लिया जाये, तो वाक् सफला या पुष्पिता कही जा सकती है। ग्रहीता को ध्यान में रख कर वैदिक ऋषि ने कहा है कि 'कोई देख कर भी वाक् को नहीं देखता, कोई इसे सुन कर भी नहीं सुनता और किसी के पास वाग्देवी ऐसे प्रकट होती है जैसे कामनायुक्त और सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजी पत्नी पति के पास पहुँचती है'[१०]।

—:०:—

(१) ...म्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ऋग्वेद १०,१२५,६

(२) अहमेव वात इव प्रवाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सं बभूव ॥ वहीं, ८

(३) पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः ।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।। वहीं, ३४

(४) इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः ।
अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ।। वहीं, ३५

(५) ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।। वहीं, ३९

(६) तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति, तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति ।। वहीं, ४२

(७) गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी, सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ।। वहीं, ४१

(८) तदेतत्तुरीयं वाचो निरुक्तं यन्मनुष्या वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यत् पशवो वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यद्वयांसि वदन्त्यथैतत्तुरीयं वाचोऽनिरुक्तं यदिदं क्षुद्रं सरीसृपं वदति ।

शतपथब्राह्मण ४,१,३,१६

(९) ऋग्वेद १०,७१, १-३

(१०) उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाच-
मुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे,
जायेव पत्य उशती सुवासाः ।। वहीं, १०,७१,४

—:o:—

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

किसी भी राष्ट्र की संस्कृति उत्थान पतन की करवटें लेती हुई अतीत से ही भविष्य की ओर बढ़ती है। इसी कारण उसके नवीन साहित्य की नूतन प्रवृत्तियों को और उस संस्कृति की विभिन्न धाराओं को समझने के लिए उसके प्राचीन साहित्य को जानना आ श्यक होता है। कई देशों की संस्कृति में अतीत के साथ वर्तमान का यह सम्बन्ध कुछ शिथिल होता हुआ दीखता है पर भारत में ऐसा नहीं हुआ है। यही कार ा है कि ग्रीक और लेटिन साहित्य की तुलना में संस्कृतसाहित्य कहीं अधिक जीवित है। आज भी भारतीय जनता के धार्मिक, सामाजिक और व्यावहारिक जीवन पर संस्कृत की छा ा स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जनता आज भी मन्दिरों, मठों और विहारों में संस्कृत धर्मग्रन्थों का पाठ श्रद्धा पूर्वक सुनती है। पारिवारिक जीवन में समय समय पर किये जाने वाले नाना संस्कारों में संस्कृत का प्रयोग होता है। एक हिन्दू धर्मावलम्बी की जातकर्म संस्कार से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक की लम्बी जीवनयात्रा के विभिन्न पड़ावों में वेदमन्त्रों की पवित्र ध्वनि उसकी थकान को दूर करती है। हिन्दू कानून की मूल भित्तियाँ संस्कृत में लिखो स्मृतियाँ हैं जिनके आधार पर आज भी विभिन्न समस्याओं का हल ढूँढा जाता है। रामाय ा और महाभारत की कथायें आज भी भारतीयों के हृदयों में नवचेतना और उत्साह भरतो हैं। अनेक विद्वान् पण्डित अब भी शास्त्रीय वादविवादों में तथा पत्र-पत्रिकाओं में संस्कृत का प्रयोग करते हैं।

प्राचीनता—हमारे वर्तमान जीवन के साथ इस प्रकार गुँथा हुआ संस्कृत-साहित्य अपनी प्राचीनता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषाओं में से एक है और ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। इस प्राचीनता के कारण संस्कृत साहित्य का अध्ययन केवल भारत की ही नहीं बल्कि संसार के बहुत से भागों की प्राचीन संस्कृति को जानने के लिए आवश्यक है।

अविच्छिन्न प्रवाह—कम से कम ईसा से २००० वर्ष पूर्व से लेकर आज तक संस्कृत ग्रन्थों की रचना अनवरत रूप से होती चली आई है। विदेशी आक्रमणों की उथल-पुथल में भी यह क्रम कभी नहीं टूटा है।

विशाल परिमाण—प्राचीनकाल से लेकर अब तक के इस लम्बे समय में लाखों संस्कृतग्रन्थों की रचना हुई है। बहुत वर्ष पहले पाश्चात्य विद्वान् एलफिन्सटन ने कहा था कि संस्कृतपुस्तकों की संख्या ग्रीक और लेटिन दोनों के साहित्य को मिला कर उनकी पुस्तकों से अधिक है। बाद की खोजों से तो यह संख्या और भी बढ़ गई है। लगभग पाँच लाख हस्तलिखित पुस्तकें देश-विदेशों के पुस्तकालयों में संगृहीत है। यह भी हमें भूलना न चाहिए कि जहाँ लेटिन तथा ग्रीक साहित्य की प्रत्येक पुस्तक के कई कई संस्करण निकल चुके हैं, संस्कृतसाहित्य का पाँच प्रतिशत भाग ही प्रकाशित हो सका है।

विषय व्यापकता—धर्म—संस्कृतसाहित्य का बहुत बड़ा भाग हिन्दुओं, बौद्धों और जैनों का धर्मसाहित्य है। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत, पुराण, स्तोत्र इत्यादि सहस्रों ग्रन्थ हिन्दु धर्म के अध्ययन की सामग्री प्रस्तुत करते हैं। बौद्धों के प्रारम्भिक ग्रन्थ पाली में मिलते हैं पर अश्वघोष के समय से संस्कृत या मिश्रित संस्कृत का प्रयोग ही अधिक होने लगा था। अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, दिङ्नाग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति, शान्तिदेव, शान्तरक्षित इत्यादि बौद्ध आचार्यों की कृतियाँ बौद्धधर्म का परिचय देती हैं। जैनों ने भी प्रारम्भ में प्राकृत भाषा में ग्रन्थ रचे पर कुछ समय बाद संस्कृत का ही आश्रय लिया। सैकड़ों जैन चरित-ग्रन्थ, प्रबन्ध-ग्रन्थ, कथासंग्रह, स्तोत्र इत्यादि संस्कृत में लिखे मिलते हैं। इन तीनों धर्मों के विकास के इतिहास की दृष्टि से संस्कृतसाहित्य का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

दर्शन—तत्त्वज्ञान सम्बन्धी जिज्ञासा का जो बीज वेदों उपनिषदों में दिखाई देता है उसी ने आगे चलकर छः आस्तिक दर्शनों, न्याय—वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदान्त को जन्म दिया। प्रत्येक दर्शन का अपना मूल ग्रन्थ सूत्र रूप में मिलता है जिस पर भाष्य और वृत्तियाँ बाद में लिखी गईं। भौतिकवाद के समर्थक चार्वाक दर्शन का अध्ययन भी महत्त्वपूर्ण है।

साधारणत: लोगों की यह धारणा है कि संस्कृतसाहित्य में केवल धर्मग्रन्थ ही हैं और धर्मनिरपेक्ष जनता के लिए इस साहित्य की आवश्यकता नहीं। पर बात वस्तुतः कुछ और ही है। सांसारिक व्यवहारोपयोगी विषयों के ज्ञान के लिए भी संस्कृत साहित्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

धर्मशास्त्र—मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, नारद, बृहस्पति, कात्यायन इत्यादि की स्मृतियों और सैकड़ों निबन्धकारों विश्वरूप, मेधातिथि, विज्ञानेश्वर, हलायुध,

लक्ष्मीधर, जीमूतवाहन, हेमाद्रि इत्यादि के निबन्धग्रन्थों में हिन्दू कानून विषयक समस्याओं पर विचार किया गया है।

राजनीति—सन् १९०९ में शामशास्त्री द्वारा कौटिल्य का अर्थशास्त्र प्रकाशित किये जाने पर यह भ्रान्ति दूर हो चुकी है कि संस्कृतसाहित्य में राजनीतिविषयक ग्रन्थों का अभाव है। बृहस्पति का अर्थशास्त्र भी प्रकाशित हो चुका है। मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रधानमन्त्री कौटिल्य (चाणक्य) द्वारा लिखे अर्थशास्त्र में विशालाक्ष, उशनस, बहुदन्ती इत्यादि कई आचार्यों का उल्लेख मिलता है जिनके ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र के अनेक विषय जैसे राजा के कर्त्तव्य, गाँव और नगर बसाने की विधियाँ, कलाओं, शिल्प, व्यापार और खेती को उन्नत करने के ढंग, आज के राजनीतिज्ञों के लिए भी उपयोगी हैं।

बाद के कई ग्रन्थ कामन्दक का नीतिसार, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, हेमचन्द्र की लघु अर्थनीति, चण्डेश्वर का नीतिरत्नाकर, शुक्र की शुक्रनीति, भारतीय राजनीतिशास्त्र का इतिहास जानने के लिए महत्त्वपूर्ण हैं।

इतिहास—इतिहास को भारतीय शिक्षाप्रणाली में पंचमवेद का स्थान दिया गया है। पुराणों में अनेकों राजवंशों का विवरण मिलता है। मैकाले का यह कथन कि पुराणों में वर्णित इतिहास का अध्यापन केवल उपहास की वस्तु है, सारहीन सिद्ध हो चुका है। अभिलेखों, सिक्कों इत्यादि से ज्ञात बहुत सी ऐतिहासिक घटनाएँ पुराणों में वर्णित घटनाओं से मेल खाती हैं। अशोक के अभिलेखों तथा कुछ अन्य अभिलेखों के अतिरिक्त अधिकतर अभिलेख संस्कृत में हैं। प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में इनका महत्त्व समुद्रगुप्त की प्रयागप्रशस्ति, खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख, पुलकेशिन् द्वितीय के एहोल अभिलेख जैसे किसी एक अभिलेख का सहारा लेकर बताया जा सकता है। कल्हणकृत राजतरंगिणी में कश्मीर का क्रमबद्ध इतिहास है। बाण का हर्षचरित, बिल्हण का विक्रमांकदेवचरित, पद्मगुप्त का नवसाहसांकचरित, जयानक का पृथ्वीराजविजय भी ऐतिहासिक सामग्री देते हैं।

आयुर्वेद—अथर्ववेद का ही एक उपाङ्ग आयुर्वेद चरक, सुश्रुत, कश्यप, भेल इत्यादि आचार्यों की संहिताओं में विस्तृत रूप लेकर आया है। औषधिविज्ञान के क्षेत्र में चरकसंहिता तथा शल्यविज्ञान के विषय में सुश्रुतसंहिता विशेष उल्लेखनीय हैं। मध्य एशिया में काशगर स्थान से ईसा की चतुर्थ शताब्दी की

लिपि में लिखित आयुर्वेद के संस्कृत ग्रन्थों की प्राप्ति सिद्ध करती है कि चतुर्थ शताब्दी मे संस्कृतसाहित्य का यह भाग भारत की सीमाओं को पार करके विदेशों में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। संहिताओं के विभिन्न अध्याय या स्थान शरीर सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर प्रकाश डालते हैं—

१. सूत्रस्थान—दीर्घ आयु प्राप्त करने के साधारण नियम तथा वैद्य के कर्त्तव्य
२. निदानस्थान—आठ मुख्य रोगों का निदान
३. विमानस्थान—शरीररोगविज्ञान
४. शरीरस्थान—शरीरविज्ञान
५. इन्द्रियस्थान—इन्द्रियों के कार्य
६. चिकित्सास्थान—रोगों की विशेष चिकित्सा
७. कल्पस्थान
८. सिद्धिस्थान } रोगों की सामान्य चिकित्सा

इन संहिताओं के ऊपर शताधिक लेखकों ने ग्रन्थ लिखे। कुछ एक लेखकों-वाग्भट्ट, माधवकर, चक्रपाणि, वङ्गसेन, मिल्हण, शार्ङ्गधर इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। इस क्षेत्र में अनुसन्धान आधुनिक औषधिविज्ञान के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

ज्योतिष— वेद का यह अङ्ग कालविभाग तथा नक्षत्रों के ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। पैतामह, रोमक, पौलिष, वासिष्ठ सूर्य यह पाँच सिद्धान्त प्रमुख माने जाते हैं। वराहमिहिर की पञ्चसिद्धान्तिका में इन पाँचों सिद्धान्तों का परिचय है। उसका अन्य ग्रन्थ बृहत्संहिता तो भारत का भौगोलिक और सांस्कृतिक कोश कहा जा सकता है।

गणित—वैदिक शुल्व सूत्र में ज्यामिति का परिचय मिलता है। आर्यभट्ट के गणित सम्बन्धी ३३ सूत्र तथा भास्कराचार्य के सिद्धान्तशिरोमणि के दो अध्याय गणित के इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते हैं।

अन्यशास्त्र—वास्तुशास्त्र, कामशास्त्र, संगीतशास्त्र, पाकशास्त्र इत्यादि अनेकों व्यवहारोपयोगी विषयों पर संस्कृत में ग्रन्थ उपलब्ध हैं। पालकाप्य का हस्त्यायुर्वेद और शालिहोत्र का अश्वशास्त्र पशुपालन पर महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

काव्य—इन व्यवहारोपयोगी विषयों के अतिरिक्त, रसास्वादन कराने वाले

काव्य के क्षेत्र में संस्कृतसाहित्य का विशाल संग्रह रसिकजनों को आनन्दित करता है। भास, कालिदास, विशाखदत्त, शूद्रक, हर्ष और भवभूति के नाटक, अश्वघोष, कालिदास, भारवि, माघ, भट्टि, श्रीहर्ष इत्यादि के महाकाव्य, भर्तृहरि, अमरु, बिल्हण, जयदेव इत्यादि के गीतिकाव्य, दण्डी, सुबन्धु, बाण के गद्यकाव्य, कथासरित्सागर, बृहत्कथामंजरी, बृहत्कथाश्लोकसंग्रह, वेतालपंचविंशति, शुकसप्तति, सिंहासनद्वात्रिंशिका आदि में निहित लोककथाएँ, पंचतन्त्र, हितोपदेश की पशुकथाएँ यह सारे का सारा विशाल साहित्य मौलिकता तथा सौन्दर्य की दृष्टि से विश्व के अन्य साहित्यों से कम महत्त्वपूर्ण नहीं। संस्कृत-व्याकरण के साहित्य, कोशसाहित्य तथा अलंकारसाहित्य में जो रचनासौष्ठव मिलता है वह पुरातन काल की किसी अन्य जाति के साहित्य में नहीं है।

प्रभावक्षेत्र—विषयव्यापकता के साथ-साथ संस्कृतसाहित्य का प्रभाव-क्षेत्र भी अत्यन्त विशाल है। विन्टरनिट्ज़ के शब्दों में "प्रभावक्षेत्र की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य उस प्राचीन युग में भी देश-देशान्तर के मनोनभ पर छा चुका था अर्थात् भारत की सीमाओं को लांघकर वह बृहत्तर भारत के बृहन्मानस का अङ्ग बन चुका था जिसकी परिसीमा में—उत्तर की ओर तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया, दक्षिण में लङ्का (हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर के अन्यान्य द्वीपों सहित) मलय उपनिवेश और पश्चिम में मध्यएशिया और पूर्वी तुर्किस्तान के हृदय को स्पर्श करता सा—आधा विश्व आ जाता था।"

आधुनिक समय में संसार के सभी बड़े बड़े देशों के विश्वविद्यालयों में संस्कृत का अध्ययन होता है। पाश्चात्यविद्वान् विन्टरनिट्ज़ के ही शब्दों में "भारतीय साहित्य की प्राचीनता, भूगोल तथा विषय की दृष्टि से व्यापकता, उसकी आन्तरिक समृद्धि एवं कमनीयता और मानव संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उस का मूल्य—ये सब ऐसी चीज़ें हैं जो पाश्चात्य जगत् को इसकी महत्ता मौलिकता तथा प्राचीनता की ओर बरबस आकर्षित कर लेती हैं।"

फ्रांसीसी विद्वान् दार्शनिक वाल्टेयर ने वेदों के प्रति पश्चिम की कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा था 'केवल इसी महती देन के लिए पश्चिम पूर्व का अनन्त काल तक ऋणी रहेगा।'

तुलनात्मक पौराणिक कथाविज्ञान तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान की दृष्टि से संस्कृतसाहित्य तथा संस्कृतभाषा का अध्ययन विशेष महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ

है क्योंकि इस से भारतीय तथा यूरोपीय दोनों जातियों के प्रागैतिहासिक सम्बन्धों पर आश्चर्यकारी प्रकाश पड़ा है।

आधुनिक भारत के लिए इसका महत्त्व—संस्कृतसाहित्य और भाषा का अध्ययन जहाँ एक ओर भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव से परिचित कराता है वहाँ दूसरी ओर उन्हें एकता के सूत्र में भी बाँधता है। कोल, द्राविड़ आदि कुछ भाषा परिवारों की भाषाओं को छोड़कर भारत की अन्य सभी प्रान्तीय भाषायें संस्कृत से ही निकली हैं। इन भारतीय आर्यभाषाओं की ध्वनियाँ, शब्दावली, रूप रचना सभी संस्कृत से सम्बद्ध हैं द्राविड़भाषाओं में भी संस्कृतशब्दों का बाहुल्य है। इस कारण संस्कृत का अध्ययन इन विभिन्न भाषाभाषियों को निकट लाने में सहायक सिद्ध हो सकता है। भारत में बोली जाने वाली सभी भाषाओं के लिए एक समान पारिभाषिक शब्दावली बनाने में संस्कृत भाषा जितनी अधिक सहायता दे सकती है उतनी और किसी भाषा से मिलनी सम्भव नहीं है। भारत के जन जीवन में घुले मिले लोकसाहित्य का मूल आधार भी संस्कृत, साहित्य है। विभिन्न जनपदों में ग्राम वधुओं के कण्ठों में गूँजते लोकगीत, ग्रामवृद्धों के मुख से निकलती लोककथायें, भावगर्भित लोकोक्तियाँ एवं प्रेरणाप्रद धर्मकथायें ये सभी संस्कृत से अनुप्राणत हैं। भारत की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य तो संस्कृत साहित्य की सुगन्ध से सुवासित है ही। इस प्रकार पूरे देश में भावनात्मक एकता लाने के लिए तथा भारतीयसंस्कृति की प्राचीन जीवनाधायक परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने के लिए संस्कृत का महत्त्व सदैव बना रहेगा।

—,—

डोगरी और संस्कृत का सम्बन्ध

बंगाली, हिन्दी, पंजाबी, डोगरी, मराठी, गुजराती, सिन्धी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएं संस्कृत से निकल कर प्राकृत, अपभ्रंश आदि अवस्थाओं में से गुजरती हुई वर्तमान रूपों को प्राप्त हुई हैं या ये भी वैदिक युग की उन बोलियों से ही धीरे धीरे विकसित हुई हैं जिनमें से किसी एक महत्त्वपूर्ण बोली ने व्याकरणबद्ध होकर संस्कृत का रूप धारण किया था ? इस प्रश्न के उत्तर में दो मत हो सकते हैं परन्तु यह निर्विवाद है कि इन सब भाषाओं का संस्कृत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है।

डोगरी भी इसी विशाल भारतीय आर्यपरिवार की भाषा है। इसका क्षेत्र जम्मू कश्मीर राज्य का जम्मू प्रान्त, हिमाचल प्रदेश का बहुत सा भाग तथा पंजाब का कुछ भाग है परन्तु प्रस्तुत लेख में जम्मू प्रान्त की डोगरी को ही लिया गया है।

पंजाबी तथा पश्चिमी हिन्दी की तरह डोगरी भी किसी ऐसी प्राकृत से विकसित हुई है जिसका निकट सम्बन्ध शौरसेनी के साथ था। शौरसेनी प्राकृत में संस्कृत य् के स्थान में ज्, व् के स्थान में ब्, त् के स्थान में द् और क्ष के स्थान में क्ख मिलता है। ये विशेषतायें डोगरी में भी दृष्टिगोचर होती हैं। उत्तर पश्चिमी भारत में खशों का पर्याप्त प्रभाव था जिसे भरत ने स्वीकार किया है—"वाह्लीकभाषोदीचानां खशानां च स्वदेशजा।" प्राकृतप्रकाश की भूमिका में खशों की भाषा की विशेषता बताई है कि वह ऐकारबहुला है। डोगरी में विभक्तिरूपों में ऐकार का महत्त्व उल्लेखनीय है। डोगरी की निजी लिपि टाकरी ब्राह्मी से विकसित हुई थी। टाकरी नाम के आधार पर टाक्की प्राकृत की कल्पना की गई है जिसे पिशेल ने ढक्की कहा है। ग्रियर्सन के अनुसार यह सियालकोट के पास रहने वाले टक्क जाति के लोगों की भाषा थी। वैयाकरण मार्कण्डेय ने इसे संस्कृत तथा शौरसेनी का मिश्रण बताकर द्राविडीविभाषा कहा है और इसकी विशेषता शब्दान्त में प्रायः उ की स्थिति, स् तथा श्, र् तथा ल् का होना बताया है डोगरी में स्, श्, र्, ल् की सत्ता तो है परन्तु उ बाहुल्य नहीं। डोगरी की पूर्ववर्तिनी अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषा के उदाहरण

तो नहीं मिलते परन्तु डोगरी के वर्तमान रूप से प्रतीत होता है कि वह शौरसेनी के निकट थी।

साहित्य की तथा शिष्ट लोगों की भाषा होने से संस्कृत विभिन्न कालों में प्राकृतों तथा अपभ्रंशों को प्रभावित करती रही है। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाएँ अपनी नयी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मुख्यतया संस्कृत शब्दावली का सहारा लेती हैं। डोगरी भाषा भी इसका अपवाद नहीं। पिछले तीन दशकों में जो डोगरी साहित्य रचा गया है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि डोगरी में संस्कृत शब्दावली का तत्सम, अर्धतत्सम तथा तद्भव इन सभी रूपों में पर्याप्त प्रयोग हो रहा है। ये संस्कृत शब्द या तो सीधे संस्कृत से आए हैं या हिन्दी आदि पड़ौसी भाषाओं के माध्यम से।

तत्सम शब्दों का प्रयोग बोलचाल की डोगरी में कम है। साहित्य में व्याकरण, अलंकार, आयुर्वेद आदि से सम्बन्धित शब्द प्राय: संस्कृत के हैं। बोलचाल में विशेष धार्मिक तथा सामाजिक संस्कारों में तत्सम रूप प्रयुक्त होते हैं। कन्यका से विकसित हुआ 'कञ्जक' शब्द सामान्यत: लड़की के लिए प्रयुक्त होता है परन्तु विवाह के लिए वेदी पर आती हुई लड़की 'कन्या' ही कहलाती है। धार्मिक संस्कार में नहाना 'स्नान' है अन्यथा 'न्हौण'। इसी प्रकार अग्निहोत्र, वास्तुपूजा, कुशा, दीक्षा, दक्षिणा, कर्मकाण्ड, कर्म, मंगल, कल्याण, निष्काम, निर्जल, निर्गुण, निष्फल, सफल आदि संस्कृत शब्द तत्सम रूप में धार्मिक संस्कारों तथा धर्मकार्यों से सम्बन्धित बातचीत में प्रयुक्त होते हैं। अधिकांश संस्कृत शब्द डोगरी में तद्भव रूप में ही मिलते हैं और उनके अध्ययन से डोगरी के विकास की कई दिशाओं का पता चलता है जो संस्कृत के साथ उसका सम्बन्ध प्रकट करती हैं।

स्वरों के क्षेत्र में डोगरी में संस्कृत की ऋ, लृ ध्वनियों का अभाव है। आ का दीर्घतर रूप भी मिलता है। प्राकृतों की तरह ह्रस्व ए तथा ओ भी हैं परन्तु उन की अलग ध्वनिग्रामों के रूप में सत्ता नहीं। व्यञ्जनों में ष् का अभाव है। महाप्राण सघोष व्यञ्जनों तथा महाप्राण हकार का रूप नितान्त बदल गया है।

तद्भव शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन

आदिस्वर लोप

डोगरी भाषा में बह्वक्षर शब्द के आदि में ह्रस्व अ आदि स्वर का लोप

हो जाता है। इस प्रकार बहुत से संस्कृत शब्द केवल आदिस्वर रहित होकर डोगरी में सुरक्षित हैं :—

संस्कृत	डोगरी
अनर्थ	नर्थ
अकाल	काल
अभ्यास	भ्यास
अध्याय	ध्या
अधीन	धीन
अमावस्या	मस्या

जहाँ आदिस्वर लोप कर देने से किसी दूसरे शब्द से अर्थभेद स्पष्ट नहीं रहता वहां या तो आदिस्वरलोप नहीं किया जाता जैसे सं० अज्ञान से डो० अज्ञान, या स्वरविपर्यय कर दिया जाता है जैसे संस्कृत धातु तृ के साथ उत् उपसर्ग लगने से उस का अर्थ पार करना होता है, उसी से हिन्दी की उतरना उतारना क्रियाएँ विकसित हुई हैं। डोगरी में उतारना क्रिया के उ का लोप करने से तारना क्रिया से अर्थभेद स्पष्ट न रहता अतः उ को त् व्यञ्जन के बाद रखकर समस्या का समाधान कर लिया गया और डोगरी रूप बना तुआरना। इसी प्रकार उदासित से दुआस, उड्डयन से डुआना या डुआरना और उपारण से पुआरना (व्रत उपारण करना) आदि रूप विकसित हुए हैं।

स्वरभक्ति

संयुक्त व्यञ्जनों से युक्त संस्कृत शब्द स्वरभक्ति युक्त होकर डोगरी में आए हैं।

संस्कृत	डोगरी
पवित्र	पवित्तर
पुत्र	पुत्तर
कलत्र	कलत्तर
कर्म	करम
प्रताप	परताप

अ का ऐ में परिवर्तन

संस्कृत शब्दों में अनुनासिक ध्वनि के पश्चात् आने वाले अघोष व्यञ्जन से पूर्व अ ध्वनि डोगरी शब्दों में ऐ में बदल जाती है।

संस्कृत	डोगरी
सन्त	सैन्त
अन्तर	ऐन्तर
अंश	ऐंस
पंच	पैंच
कण्ठ	कैण्ठ
यन्त्र	जैन्तर
मन्त्र	मैन्तर
चञ्चल	चैञ्चल

य् व् का ज् ब् में परिवर्तन

संस्कृत शब्दों में आदि के य् व् डोगरी शब्दों में ज् ब् में बदल जाते हैं। उपसर्ग के बाद आए य् व् भी ज् ब् में बदल जाते हैं।

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
विराग	बराग	वियोग	बजोग
विस्तार	बस्तार	विपत्	विपता
वसन्त	बसेन्त	विद्युत्	बिज्ज
वेला	बेला	विलाप	बरलाप
विचित्र	बचित्तर	संयोग	संजोग
यश	जस	यज्ञ	जग्ग
यक्ष	जख	यत्न	जतन
योधा	जोधा	यन्त्र	जैन्तर
योगी	जोगी	युक्ति	जुगत
युद्ध	जुद्ध	यादृश	जदेया

स्वर मध्यवर्ती अन्तःस्थ य् व् प्रायः इ उ में परिवर्तित होकर दूसरे स्वरों से मिल जाते हैं। शब्दान्त के य् व् का प्राय: लोप हो जाता है।

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
विनायक	बनैक	स्वभाव	सुभा
नयन	नैन	भाव	भा
लवण	लूण	समय	समा
भवन	भौन	हिमालय	हिमाला

शिवालय	शिवाला	निश्चय	निश्चा
धन्य	धन्न	भाग्य	भाग

संस्कृत शब्दों के बीच आने वाली र् ध्वनि जो प्राय: हिन्दी, पंजाबी तद्भव शब्दों में लुप्त हो जाती है, डोगरी तद्भव शब्दों में प्राय: सुरक्षित मिलती है। अशोक के अभिलेखों के उत्तर-पश्चिमी संस्करण की भाषा में उपलब्ध यह विशेषता डोगरी का उस प्रदेश की प्राकृत से सामीप्य प्रकट करती है।

संस्कृत	डोगरी	हिन्दी	संस्कृत	डोगरी	हिन्दी
सूत्र	सूत्तर	सूत	दूर्वा	द्रुब	दूब
नेत्र	नेत्तर	नेत्र	त्रुट्	त्रुट	टूट
निद्रा	नीन्दर	नींद	कर्त्	कर्त	काट
पत्र	पत्तर	पत्ता	क्षेत्र	खेत्तर	खेत
ताम्र	तरामा	तांबा	प्रति	परति	—
ग्राम	ग्रां	गांव	भ्राता	भ्रा	भाई
प्रस्वेद	परसा	पसीना			

सादृश्य के कारण यह र् ध्वनि कई ऐसे शब्दों में भी आ गई है जिनमें संस्कृत में यह नहीं थी।

संस्कृत	डोगरी
कवल	क्रूली
सम्बन्ध	सरबन्ध
विलाप	बरलाप
चित्त	चिरता

संस्कृत की मूर्धन्य ऊष्म ध्वनि ष डोगरी में ख उच्चरित होती है :—

हिन्दी के अनुकरण पर आधुनिक डोगरी में कुछ शब्दों में इसका तालव्य श की तरह उच्चारण भी होने लगा है।

संस्कृत	डोगरी
धनुष	धनख
वर्षा	बरखा
निषिद्ध	निखिद्ध
विष	बिख, बिस
भाषा	भाखा या भाशा

क्ष् का परिवर्तन भी ख या क्ख में होता है :—

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
नक्षत्र	नखत्तर	वृक्ष	रुक्ख
अक्षत	अक्खत	प्रदक्षिणा	प्रदक्खना
क्षत्रिय	खत्री	क्षुरप	खुरपा
क्षीण	खीन	भक्ष	भक्ख
पक्षी	पखेरु	रक्षा	रक्ख
परोक्ष	परोख	शिक्षा	सिक्ख
प्रत्यक्ष	प्रतक्ख	भिक्षा	भिक्ख

कुछ संस्कृत शब्दों का क्ष् डोगरी में दारदिक भाषाओं की तरह छ् मिलता है।

संस्कृत	डोगरी
कक्ष	कच्छ
क्षल्	छल
नक्षत्र	नछत्तर

संस्कृत शब्दों का श् डोगरी में प्रायः स् में परिवर्तित हो जाता है :—

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
राशि	रास	नश्	नस्स
नाश	नास	विश्राम	बसोना
निराश	निरास	अंश	एंस
शीत	सीत	विदेश	बदेस
शल्य	सल्ल	आदेश	अदेस
शंख	सैंख	आकाश	गास
शब्द	सद्द	अंकुश	अंकस

समीकरण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप संस्कृत शब्दों के संयुक्त व्यञ्जनों के स्थान पर द्वित्व व्यञ्जन मिलते हैं।

संस्कृत	डोगरी
तप्त	तत्ता
लग्न	लग्ग
अग्नि	अग्ग

कर्म	कम्म
गर्भ	गब्भे

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप संस्कृत शब्दों के त्य का च्च में, द्य का ज्ज में, ध्य का ज्झ में परिवर्तन मिलता है :—

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
नृत्य	नच्च	विद्युत	बिज्ज
सत्य	सच्च	स्विद्य	सिज्ज
वाद्य	बाज्जा	बुध्य	बुज्झ

वर्णविपर्यय से संस्कृत शब्दों की ध्वनियाँ डोगरी शब्दों में आगे पीछे हो गई हैं :—

संस्कृत	डोगरी
जातक	जागत
कमलासन	कड़मासन
उत्कीर्ण	कनेरना

संस्कृत के आ प्रत्ययान्त (स्त्रीलिङ्ग द्योतक टाप् प्रत्यय) शब्दों का आ डोगरी में लुप्त हो गया है :—

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
खट्वा	खट्ट	वार्ता	बात
जंघा	जंघ	लज्जा	लज्ज
जिह्वा	जीभ	शिला	सिल्ल
दूर्वा	द्रुब	संध्या	सञ
पीडा	पीड़	आशा	आस

इ प्रत्यान्त संस्कृत शब्दों की इ का लोप हो गया है :—

संस्कृत	डोगरी	संस्कृत	डोगरी
मति	मत	जाति	जात
गीति	गीत	स्मृति	सुरत
अति	अत्त	अंगुलि	औंगल

संस्कृत के कप्रत्ययान्त शब्दों के क् का लोप कर डोगरी में उन का रूप आकारान्त मिलता है :

संस्कृत	डोगरी
कण्टकः	कण्डा
वत्सकः	बच्छा
चित्रक:	चित्रा
स्फोटक:	फोड़ा

सम्भवतः इन्हीं शब्दों के सादृश्य के कारण कुछ अकारान्त शब्द भी आकारान्त हो गये हैं :—

संस्कृत	डोगरी
हास:	हासा
अण्ड:	अण्डा
स्कम्भ:	खम्बा

संस्कृत के इन् (इनि) ईय (छ) इय (घ) इक् (ठ) प्रत्ययान्त शब्द डोगरी में ईकारान्त हो गये हैं ;—

संस्कृत	डोगरी
मालिन्	माली
धनिन्	धनी
भारतीय	भारती
केन्द्रिय	केन्द्री
तैलिकः	तेली

संस्कृत शब्दों की महाप्राण सघोष स्पर्श ध्वनियाँ तथा हकार ध्वनि डोगरी (विशेषत: जम्मू तथा कांगड़ा की) में उच्चारण की दृष्टि से बदल गई हैं। शब्दों के आदि में इन ध्वनियों का महाप्राणत्व तथा घोषत्व लुप्त हो जाता है तथा उनके तुरन्त बाद में आने वाला स्वर नीची सुर से बोला जाता है। संस्कृत के धनं घन: भार: शब्द डोगरी में धन, घन, भार लिखे जाते हैं परन्तु इन शब्दों के आदि के ध्, घ्, भ् का उच्चारण अघोष अल्पप्राण त् क् प् जैसा तथा स्वर का उच्चारण नीची सुर में होता है। शब्दों में अन्य स्थितियों में इन महाप्राण सघोष ध्वनियों का महाप्राणत्व ही लुप्त होता है तथा सुर का ऊँचा या नीचा होना शब्द में बलाघात युक्त स्वर की स्थिति पर निर्भर होता है। यदि बलाघात युक्त स्वर संस्कृत या प्राकृत अवस्था में घ् झ् ढ् ध् भ् के बाद था तो डोगरी में इन ध्वनियों के बाद नीची सुर मिलती है, जैसे—

संस्कृत—स्वभाव डोगरी— सुभा (सुबा)

यदि संस्कृत या प्राकृत अवस्था में शब्द में बलाघात युक्त स्वर का स्थान घ झ ढ ध भ से पूर्व था तो डोगरी में सुर ऊँची मिलती है, जैसे :—

संस्कृत—लाभ डोगरी लाभ (लाब)

हकार ध्वनि का उच्चारण भी इसी प्रकार ऊँची तथा नीची सुर के रूप में मिलता है। यह हकार संस्कृत का हो या संस्कृत की ष ध्वनि या महाप्राण ध्वनियों से प्राकृत में विकसित हुआ हो, डोगरी में ऊँची या नीची सुर को ही जन्म देता है। बलाघात युक्त स्वर हकार से पूर्व हो तो सुर ऊँची होती है, बलाघात युक्त स्वर हकार के बाद में आए तो सुर नीची होती है।

संस्कृत	प्राकृत	डोगरी
ग्रहण		ग्रैण ऊँची सुर
पलाश	पलाह	पला ऊँची सुर
शेखर	सेहर	सेरा ऊँची सुर
लघुक	लहुक	लौका ऊँची सुर
पौष	पौह	पो ऊँची सुर
हार		आर नीची सुर

विभक्ति चिह्न

अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की तरह डोगरी में भी संस्कृत के विभक्ति चिह्नों का लोप हो गया है और उनके स्थान पर परसर्गों का प्रयोग होता है जो संस्कृत के स्वतन्त्र शब्दों के अवशेष हैं। जैसे कृते से गिते, उपरि से पर, मध्य से मझाटे। उत्तम पुरुष सर्वनाम के कर्ता कारक के दो रूप मिलते हैं। अऊं संस्कृत के अहम् से विकसित हुआ है तथा 'में' संस्कृत के मया से।

क्रिया रूप रचना

डोगरी क्रिया रूप धातुओं के कृदन्त रूप के साथ सहायक क्रिया लगाकर बनते हैं। राजशेखर की उक्ति कृत्प्रिया उदीच्या: डोगरी भाषा के लिए भी ठीक है। क्रिया रूपों का लिङ्ग, वचन कर्ता या कर्म के अनुसार चलता है :—

जागत खन्दा ऐ	लड़का खाता है।
कुड़ी खन्दी ऐ	लकड़ी खाती है।
जागत खन्दे न	लड़के खाते हैं।
कुड़ियां खन्दियाँ न	लड़कियाँ खाती हैं।
जागतै रुट्टी खादी ऐ	लड़के ने रोटी खाई
कुड़ियै रुट्टी खादी ऐ	लकड़ी ने रोटी खाई
जागतै अम्ब खादा ऐ	लड़के ने आम खाया
कुड़ियै अम्ब खादा ऐ	लड़की ने आम खाया

यह कृदन्त तिङन्त का मिश्रण है। क्रिया रूप ऐ तथा न कर्त्ता या कर्म के लिङ्ग अनुसार नहीं बदलते परन्तु भूतकाल के रूपों में क्रिया केवल कृदन्त प्रकार की है :—

जागत खन्दा हा	कुड़ी खन्दी ही
जागत खन्दे हे	कुड़ियां खन्दियां हियां

यहाँ खन्दा खन्दी आदि तथा हा ही आदि रूप कर्ता के अनुसार चलते हैं।

डोगरी मे पूर्वकालिक कृदन्त धातु के साथ इयै लगा कर बनाए जाते हैं। संस्कृत में इसी कार्य के लिए प्रयुक्त य प्रत्यय से इसका निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है।

संस्कृत	डोगरी	अर्थ
निपीड्य	निपीड़ियै	निचोड़ कर
आनीय	आनियै	लाकर

शब्दावली

संस्कृत की बहुत सी धातुएँ डोगरी में अपने पुराने अर्थो में ही प्रयुक्त होती हैं जैसे :—

त्रुट्—टूटना	लिख्—लिखना
लभ्—पाना	रट्—रटना
कृ—करना	दल्—काटना
मृ—मरना	वस्—रहना

कुछ धातुओं का अर्थ थोड़ा बदल गया है। नि उपसर्ग युक्त मन्त्र धातु का प्रयोग संस्कृत में न्यौता देने के अर्थ में होता है परन्तु डोगरी में इस का प्रयोग विशेष अवसरों पर ब्राह्मणों को भोजन के लिए आमन्त्रित करने के लिए ही होता है। चक्ष् का अर्थ संस्कृत भाषा में देखना है परन्तु डोगरी में चक्ख का अर्थ किसी को बुरी नजर से देखना होता है। संस्कृत में भक्ष् का अर्थ निगलना होता है, डोगरी में भक्ख का प्रयोग वायु भक्षण के लिए अथवा भोजन को बुरी नज़र से देखने (चुराकर अदृश्य ढंग से खाने) के लिए होता है। संस्कृत के कई ऐसे शब्द भी डोगरी में सुरक्षित हैं जिन का प्रयोग संस्कृत में भी लुप्त प्रायः है। जैसे वाजसनेयी संहिता में प्रयुक्त शोष (गरमी की ऋतु) डोगरी में सोहा के रूप में, माध्यन्दिनी संहिता में उपलब्ध बष्कयणो (चिरप्रसूता गौ) डोगरी में बाखड़ी के रूप में मिलता है। इस क्षेत्र में अभी अनुसन्धान करने की आवश्यकता है ताकि डोगरी तथा उस की बोलियों में परम्परा से सुरक्षित संस्कृत भाषा की निधि को प्रकाश में लाया जा सके।

—:०:—

डोगरी शब्दसुर : प्रयोगशाला में कुछ प्रयोग

किसी भी यान्त्रिक या मानवी ध्वनि को मुख्यतया उस के तीन तत्व उसे शेष ध्वनियों से पृथक् करते हैं। वे हैं—१. ध्वनिगुण (quality), २. ध्वनि का बड़ापन या छोटापन (loudness) तथा ३. ध्वनि की उच्चता या निम्नता (pitch)। सितार का मध्य सप्तक का 'सा' और हारमोनियम का मध्य सप्तक का सा' ध्वनि के बड़ेपन छोटेपन तथा उच्चता निम्नता की दृष्टि से एक से होते हुए भी ध्वनिगुण की दृष्टि से अलग अलग होते हैं। इसी प्रकार यदि हम एक ही आकार प्रकार के दो tuning Fork लेकर एक को धीरे से ठोकर लगाएं और दूसरे को ज़ोर से लगाएं तो दोनों की ध्वनि, गुण तथा उच्चता निम्नता बिल्कुल एक सी होने पर भी पहले की ध्वनि बहुत छोटी अर्थात् बिलकुल पास से सुनाई देने वाली और दूसरे की ध्वनि काफी बड़ी अर्थात् दूर तक सुनाई देने वाली होगी। यही बात मानवी सघोष ध्वनियों के विषय में कही जा सकती है। आ ई का भेद तो स्वर का गुण भेद है परन्तु आ को या ई को ऊँचे या नीचे सुर में तथा बड़ी या छोटी आवाज़ में बोला जा सकता है। सघोष ध्वनियों के उच्चारण में स्वरतन्त्रियों में कम्पन होता है। यह कम्पन जब अधिक तेजी से होता है तो ध्वनि ऊँचे सुर में होती है, जब धीमी गति से होता है तो ध्वनि नीचे सुर मे होती है। अर्थात् सुर स्वरतन्त्रियों की प्रति सैकण्ड कम्पनावृत्ति (frequency of vibration per second) पर निर्भर होता है।

प्रस्तुत लेख का विषय डोगरी में शब्दसुर के साथ सम्बन्ध रखता है। वैसे प्रत्येक भाषा के प्रायः प्रत्येक शब्द में सघोष ध्वनि विद्यमान होने से प्रत्येक शब्द किसी न किसी सुर में ही बोला जाता है, पर जहाँ सुर की उच्चता निम्नता में परिवर्तन लाने पर शब्द का कोशार्थ भी बदल जाता है, वहाँ यह शब्द-सुर भाषा की दृष्टि से विशेष महत्त्व ग्रहण कर लेता है। संसार की भाषाओं (चीनी आदि) में इस शब्द-सुर का बड़ा महत्त्व है।

यह शब्द-सुर, सुर की सापेक्षिक उच्चता निम्नता (relative pitch) पर आधारित होता है। एक व्यक्ति-विशेष के विषय में जो सुर विशेष ऊँचा

कही जा सकती है, दूसरे व्यक्ति के विषय में वही सुर नीची कही जा सकती है। किसी परिस्थिति-विशेष में जो सुर ऊँची मानी जा सकती है, दूसरी परि-स्थिति विशेष में वही सुर नीची कही जा सकती है। भारत के प्राचीन आचार्यों ने भी इस तत्त्व को समझा था। अथर्ववेद प्रातिशाख्य १-१४-१७ में उदात्त, अनुदात्त स्वरित की परिभाषा इस प्रकार है—

समाने यमेऽक्षरमुच्चैरुदात्तम्। नीचैरनुदात्तम्। आक्षिप्तं स्वरितम् स्वरित-स्यादिनो मात्रार्धमुदात्तम्।

यहाँ 'समाने यमे' का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि सुर की उच्चता निम्नता किसी एक व्यक्ति तथा परिस्थिति के विषय में ही कही जा सकती है।

मेरे द्वारा प्रयुक्त प्रयोगों में श्री रामनाथ जी शास्त्री तथा श्री दुर्गादास जी शर्मा की आवाज में इसी प्रकार का भेद है। शास्त्री जी की आवाज आकार में बड़ी होने पर भी सुर की दृष्टि से श्री दुर्गादास जी शर्मा की आवाज में नीची है, अतः जो सुर शर्मा जी के विषय में मध्य स्तर का सुनाई देती है, वही शास्त्री जी के विषय में उच्चतम है। ईश्वर ने हमारे ये कान ऐसे विचित्र यन्त्र के रूप में बनाए हैं और मस्तिष्क के तन्तुओं का सम्बन्ध इस अद्भुत ढंग से उन के साथ जोड़ा है कि हम किसी व्यक्ति के मुख से एक दो शब्द सुनने के बाद ही उस के सुर का स्तर अपने मस्तिष्क में बिठा लेते हैं और फिर उसी मापदण्ड से मापते हुए उस व्यक्ति द्वारा उच्चरित शब्दों का अर्थ समझने लगते हैं। ईश्वर निर्मित कानों की यह योग्यता तो मशीनों में नहीं है; परन्तु फिर भी कुछ यन्त्रों द्वारा सुर मापने का कार्य किया गया है। इसी क्षेत्र में किये गये ये प्रयोग भी छोटे से प्रयास हैं।

कोपेनहेगन विश्व विद्यालय में ध्वनिविज्ञान की कुछ शिक्षा पा लेने के पश्चात् मैंने डोगरी ध्वनियों (स्वर व्यञ्जन आदि) के श्रावणिक प्रयोग ध्वनिविज्ञान की उच्च श्रेणी के विद्यार्थियों पर किए थे। मेरे द्वारा उच्चरित तथा भारत से टेप रिकार्ड करके भेजे हुए शब्दों को सुन कर जहाँ उनके द्वारा कुछ अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया था, वहाँ कार, घार, काह्र जैसे शब्द-सुर युक्त शब्दों की भिन्नता को उन लोगों ने केवल सुर की उच्चता निम्नता पर ही आधारित सुना। तत्पश्चात् मैंने उन शब्द-सुरों पर यन्त्रों द्वारा प्रयोग करने का निश्चय किया और ध्वनिविभाग की अध्यक्षा प्रो० एली फिशर यान्सन के निरीक्षण में लगभग तीन मास तक इस दिशा में अनुसंधान किया। अनुसंधान का उद्देश्य केवल यही ज्ञात

करना था कि कार, घार और काह्र जैसे शब्द समूहों में कोशार्थ का भेद क्या सचमुच ही सुर की उच्चता निम्नता पर आधारित है ? सुर को वह उच्चता निम्नता कहाँ तक होने पर वह भेद स्पष्ट रहता है ? क्या कोई अन्य तत्व भी उस में सहायक होते हैं ?

प्रो० एली फिशर यान्सन मेरे साथ विचार विमर्श करके इस निश्चय पर पहुँची थीं कि शब्द-सुर का यह विषय काफी विस्तृत तथा बहुत से पहलुओं से सम्बद्ध है । अतः अनुसंधान केवल प्रारम्भिक रूप म ही तथा कुछ एक पहलुओं को ही ध्यान में रख कर करना उचित होगा। इस दृष्टि से मैंने मुख्य रूप स एकाक्षरी शब्दों को ही प्रयोग का विषय बनाया और अनुसंधान केवल पिच मीटर तथा इन्टैन्सिटी मीटर से बनाई सुरलहरों तक ही सीमित रखा । संस्कृत और डो..रो शब्दों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर कुछ नियम नीचे दिये जाते हैं—

१ यदि पूर्व बलाघात हो तो डोगरी म तृतीय सुर होता है । लोह--लोहा, स्वर मध्यवर्ती ह् ध्वनि के पश्चात् बलाघात हो तो द्वितीय सुर होता है । लोहकार – लुहार ।

२ शब्दादि ह द्वितीय सुर को जन्म देता है हस्त-हत्थ ।

३ शब्दान्त ह तृतीय सुर को : मलाह-सलाह् ।

४ सघोष महाप्राण स्पर्श से पूर्व के स्वर पर बलाघात हो तो सुर तृतीय, लाभ—लाभ । सघोष महाप्राण स्पर्श के बाद के स्वर पर बलाघात हो तो सुर द्वितीय, स्वभाव—सुभा ।

५ सघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों में एक और परिवर्तन भी होता है । शब्दादि या उपसर्ग के तुरन्त बाद को स्थिति में उन का घोषत्व भी लुप्त हो जाता है (भार—भार Pa²r निर्धन—निर्धन nirta²na) परन्तु उपसर्ग अनिश्चित होने पर शब्दादि में भी (अभ्यास—ब्या²स) और अन्यथा अनादि स्थिति में लुप्त नहीं होता ।

६ अघोष महाप्राण स्पर्श ध्वनियों के भी सुर सहित उच्चारण की प्रवृत्ति डोगरी में है, पर अभी यह पूर्णता को प्राप्त नही हुई और इन में महा-प्राणत्व का भी लोप नहीं होता । जैसे

खल्ल=नीचे खेड=खेल

कुछ यान्त्रिक प्रयोग

सुर के मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक वस्तु होने के कारण इसका विवेचन अत्यन्त कठिन होता है। वाक्य में शब्द सुर के साथ साथ वाक्य-सुर-लहर की उपस्थिति भी शब्दसुर पर प्रभाव डालती है। मेरा विषय चूँकि शब्दसुर का विवेचन ही था अतः इस बात का ध्यान रखना आवश्यक था कि वाक्यसुरलहर शब्दसुर को प्रभावित न करे। वाक्य सुर के अतिरिक्त विरोधी सुर (Contrastive Pitch) भी शब्दसुर को प्रभावित कर देता है। जब कोई वक्ता शब्दों या वाक्यों की सूची पढ़ता है तो कार, घार, काह़र जैसे शब्द साथ साथ आने पर एक विशेष सुर का प्रयोग करता है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उस का ध्यान इस बात पर रहता है कि यह युग्म या त्रिक है। इस सुर के प्रभाव का परिहार भी आवश्यक था।

इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए और यथा-सम्भव सभी उपलब्ध ध्वनियाँ जो सुर सहित मिलती हैं, उन्हें सम्मिलित करते हुए मैंने प्रयोग के लिए ८६ शब्दों को चुना, जिनमें से ५३ शब्द तो त्रिक या युग्म थे, जिनमें केवल सुर भेद था और शेष एक सी कोटि के व्यञ्जन तथा स्वर युक्त थे। छः प्रकार के वाक्य बनाए गये, जिन में उन परीक्ष्य शब्दों को डाला जा सके।

पहला वाक्य फ्रेम = शैल—ए।
दूसरा ,, ,, = शैल—ए।
तीसरा ,, ,, = —शैल ए ?
चौथा ,, ,, = इसो—।
पांचवां ,, ,, = इसी—ते दिख्ख
छठा ,, ,, = में (तुसें)—ग्लाया

पहला दूसरा तथा तीसरा वाक्य-फ्रेम संज्ञाशब्दों के लिए थे, चौथा, पांचवां क्रियाओं के लिए तथा छठा उन मिले जुले शब्दों के लिए था, जिन के युग्म या त्रिक व्याकरण की दृष्टि से भिन्न भिन्न श्रेणी के थे। एक युग्म या त्रिक शब्दों को एक से ही वाक्य में रखना आवश्यक था, ताकि वाक्य सुरलहर अलग अलग न हो। उदाहरणार्थ कार^{1} कार^{2} (घार) कार^{3} (काह़र) संज्ञा शब्द होने के कारण पहले तीन फ्रेमों मे रखे गये, ला^{1} ला^{2} (ल्हा) ला^{3} (लाह़्) भी चौथे पांचवें में रखे गये, क्योंकि तीनों क्रियाएँ हैं, परन्तु

पी¹ पी² (भी) पी³ (पीह्) के विषय में कठिनाई थी। इन में से पी¹ = पीना तथा पी³ = पीसना क्रियाएँ हैं और पी² (भी) = फिर, क्रियाविशेषण है। ऐसे शब्द-समूहों के लिए एक और वाक्य फ्रेम में (तुसें)—ग्लाया रखा गया। विरोधी सुर का परिहार करने के लिए इन शब्दसमूहों को साथ साथ न रख कर आगे पीछे रखा गया तथा नयी सूचियाँ बनाई गईं और फिर उन सूचियों को पाँच व्यक्तियों ने पढ़ा। (पाँचों ही जम्मू प्रान्त में पले हुए डोगरी भाषी हैं।) श्री दुर्गादास शर्मा ने जो अध्ययनार्थ उन दिनों स्वीडन में थे, वे वाक्य स्टाकहोल्म की Speech Transmission Laboratory में में पढ़े। वेदकुमारी (लेखिका) ने वे वाक्य कोपेनहेगन विश्वविद्यालय के ध्वनि विभाग की प्रयोगशाला में पढ़े। शेष तीन व्यक्तियों श्री रामनाथ शास्त्री, श्री श्यामलाल जी शर्मा और श्रीमती ऋषिकुमारी जी नाद ने उन्हें रेडियो कश्मीर जम्मू के स्टूडियो में रिकार्ड करवाया।

अब उन वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों का सुर या वस्तुत: स्वरतन्त्रियों की मूल कम्पनावृत्ति (**Fundamental Frequency**) को मापने का प्रश्न था। आज से तीस वर्ष पूर्व तो इस कार्य के लिए कायमोग्राफ का प्रयोग किया जाता था, परन्तु वह यन्त्र बहुत धीमी गति से कार्य करता है और उस से बनी सुर लहरों को मापने में भी बहुत समय की आवश्यकता होती है। अब इस कार्य के लिए पिच मीटर (Pitch Meter) का उपयोग किया जाने लगा है। मैंने कोपेनहेगन विश्वविद्यालय के ध्वनिविभाग के अध्यापक तथा प्रयोगशाला के अध्यक्ष श्री फ्रोकेयर यैन्सन द्वारा निर्मित ट्रांसपिच मीटर तथा इन्टैन्सिटी मीटर का प्रयोग किया था। दोनों की लहरों के अङ्कन के लिए उन्हें स्वीडन में एलमा शौनेण्डर निर्मित मिन्गोग्राफ संख्या ४२ से जोड़ा गया था। सुर लहरों के लिए Low Pass Filter तथा बल की लहरों के लिए High Pass Filter का प्रयाग किया गया था, Oscillogram भी बनाए गये थे, Oscillogram तथा बल लहरों का मुख्य प्रयोजन पूरी वाक्य लहर में उस शब्द-विशेष की सीमाओं का निर्धारण करना था, जिसे शब्द-सुर के लिए मापना आवश्यक था।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, शब्द-सुर में महत्त्व सुर का नहीं, अपितु सापेक्षिक सुर का होता है। एक ही सुर-विशेष एक व्यक्ति के विषय में ऊँची और दूसरे के विषय में नीची मानी जा सकती है। एक व्यक्ति-

विशेष की सुर विशेष भी विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न २ मानी जा सकती है। लेखिका द्वारा किये प्रयोगों में पाँच व्यक्तियों द्वारा उच्चरित ८६ परीक्ष्य शब्दों से युक्त वाक्यों में सुर-स्तर इस प्रकार था :—

वक्ता	निम्नतम सुर कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड	उच्चतम सुर कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड	सुर में उतार चढ़ाव का परिमाण	सुर का मध्यस्तर
वेदकुमारी	१२०	४००	१६५	२६०
ऋषिकुमारी	१४०	३५०	१५०	२४५
श्यामलाल	११०	२५०	१००	१८०
दुर्गादास	११०	४०५	१५०	२५२
रामनाथशास्त्री	६५	२१०	१३०	१३७

स्पष्ट है कि श्री रामनाथ शास्त्री तथा श्री श्यामलाल शर्मा के सुर का उच्चतम स्तर श्री दुर्गादास शर्मा के सुर के मध्यस्तर से नीचा है और श्रीमती ऋषिकुमारी का निम्नतम स्तर श्री रामनाथ शास्त्री के सुर के मध्य स्तर से ऊँचा है। इसलिए कम्पना-वृत्तियों म शब्द सुर मापने के पश्चात् निष्कर्ष निकालते हुए तो यही देखना आवश्यक होता है कि कौन-सा शब्द सुर वक्ता के कौन से सुर स्तर से आरम्भ होता है तथा आरम्भ से अन्त तक सुर की गति किस दिशा में होती है, वह समतल स्थिति में रहती है या आरोह अवरोह को प्रकट करती है।

इस दृष्टि से प्रथम सुर का प्रारम्भ तथा अन्त का बिन्दु मापा गया तथा तृतीय सुर का प्रारम्भ अन्त तथा उच्चतम स्तर का बिन्दु। निष्कर्ष इस प्रकार रहा—

सुरों का सामान्य स्वरूप

प्रथम सुर जो कार (काम), रा (राय) ला (लगा), साल (वर्ष), सान (आसान), माल (पशुओं का झुण्ड) इत्यादि में मिलता है यह लगभग मध्य समतल सुर है। यह प्राय: द्वितीय तथा तृतीय सुर के प्रारम्भ के स्तर से नीचे स्तर से शुरू होता है और फिर वाक्यसुर लहर तथा वक्ता-विशेष के निजी लहजे के अनुसार थोड़ा आरोह या अवरोह प्रकट करता है। वस्तुतः इस सुर की परिभाषा यही दी जा सकती है कि यह द्वितीय तथा तृतीय सुर से भिन्न है।

द्वितीय सुर जो कार[२] (घार—घर), रा[२] (सुर), ला[२] (ल्हा—हिला), साल[२] (स्हाल—बुझा), सान[२] (स्हान—अहसान), माल[२] (म्हाल—कठिन), इत्यादि में मिलता है, उच्चावरोही सुर है। यह प्रायः वक्ता के मध्य सुर स्तर से ऊपर के स्तर से शुरू होता है और तत्पश्चात् निम्नतम स्तर तक गिरता है। दीर्घ स्वरों के विषय में यह प्राय: पुनः ऊपर उठता है; परन्तु इस आरोह की मात्रा वाक्य सुर लहर तथा वक्ता विशेष के निजी लहजे पर निर्भर होती है। इस सुर की मुख्य विशेषता अवरोह ही है अत: इसे निम्न सुर कहा जा सकता है।

तृतीय सुर जो कार[३] (काह्‌र—लकोर), रा[३] (राह्—रास्ता), ला[३] (लाह्—उतार), साल[३] (साह्‌ल्—एक औजार), साण[३] (साह्‌ण—सांड), माल[३] (माहल—चरखे के चक्र पर लिपटा धागा) इत्यादि में मिलता है, आरोही या आरोहावरोही सुर है। यह प्रायः वक्ता के मध्य सुर-स्तर से नीचे के स्तर से प्रारम्भ होता है और तत्पश्चात् उच्चतम स्वर तक जा पहुँचता है। कम से कम मध्य सुर स्तर को तो यह अवश्य पार कर लेता है। इसे उच्च सुर कहा जा सकता है।

प्रथम सुर की द्वितीय तथा तृतीय सुर से भिन्नता

प्रथम सुर के सामान्य स्वरूप को देखते हुए प्रश्न यह उठता है कि जब प्रथम सुर भी वाक्य सुर लहर तथा वक्ता विशेष के निजी लहजे के अनुसार आरोह या अवरोह प्रकट कर देता है तो उसे द्वितीय तथा तृतीय सुर से अलग कैसे पहचाना जाता है? प्रयोग की हुई सामग्री में श्री दुर्गादास के प्रथम सुर में ५७२ कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड का औसत आरोह है। सामान्य वाक्यों मे श्रीमती ऋषिकुमारी के प्रथम सुर में पर्याप्त अवरोह है। चौथे तथा छठे प्रकार के वाक्यों में श्री रामनाथ शास्त्री के प्रथम सुर में क्रमशः ३० कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड तथा ३७ कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड का आरोह है। श्री श्यामलाल शर्मा का प्रथम सुर चौथे प्रकार के वाक्यों में लगभग समतल है, परन्तु पहले तथा छठे प्रकार के वाक्यों में थोड़ा अवरोह प्रकट करता है। वेदकुमारी का प्रथम सुर दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवे तथा छठे प्रकार के वाक्यों मे आरोह दिखाता है तथा पहले प्रकार के वाक्यों में कभी आरोह और कभी अवरोह।

इस दिशा मे अध्ययन करने से यह सिद्ध हुआ है कि यदि किसी वक्ता के प्रथम सुर में आरोह मिलता है तो वह आरोह तृतीय सुर के आरोह से कहीं

कम होता है। दूसरा मुख्य भेद यह है कि तृतीय सुर अपने उच्चतम स्तर तक प्रथम सुर की अपेक्षा बहुत जल्दी पहुँच जाता है अर्थात् तृतीय सुर में आरोह की गति तीव्रतर होती है। उदाहरणार्थ श्री दुर्गादास शर्मा द्वारा उच्चरित उदाहरणों में प्रथम सुर का उच्चतम-स्तर स्वर का ६३.१ प्रतिशत भाग बीतन पर आता है, परन्तु तृतीय सुर का उच्चतम-स्तर स्वर का ६७.१ प्रतिशत भाग बीतने पर आता है। तृतीय सुर का आरोह स्वर के प्रथमार्ध मे तीव्रतर होता है, और प्रथम सुर का आरोह स्वर के उत्तरार्ध म तीव्र होता है।

जहाँ तक अवराह का प्रश्न है, यह अवरोह भी द्वितीय सुर के अवरोह से कहीं कम होता है। श्रीमती ऋषिकुमारी नाद द्वारा उच्चरित शब्दों में प्रथम प्रकार के वाक्यो मे ४० कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड का अवरोह प्रथम सुर में मिलता है, परन्तु चूंकि द्वितीय सुर का प्रारम्भ प्रथम सुर की अपेक्षा ऊँचे स्वर से हुआ है अतः द्वितीय सुर का कुल अवरोह प्रथम सुर के अवरोह से कहीं अधिक औसत ९१ कम्पनावृत्ति प्रति सैकण्ड है।

वाक्य सुर तथा परीक्ष्य शब्द के स्थान का प्रभाव

पहले तथा तीसरे प्रकार के वाक्यों में और चौथे तथा पांचवें प्रकार के वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के शब्द सुर के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत हुआ है कि वाक्य में शब्द का स्थानविशेष भी शब्द सुर को प्रभावित करता है, परन्तु इतना अधिक नहीं कि सुरों का भेद ही लुप्त हो जाए। पहले तथा तीसरे प्रकार के वाक्य साधारण वाक्य (simple statement) हैं, परन्तु पहले प्रकार के वाक्यों में परीक्ष्य शब्द मध्य में आता है—शैल..... ऐ जबकि तीसरे प्रकार के वाक्यों में परीक्ष्य शब्द प्रारम्भ में आता है :—......शैल ऐ। चौथे तथा पांचवें प्रकार के वाक्य आज्ञावाचक हैं पर चौथे में परीक्ष्य शब्द अन्त में आता है, जब कि पांचवें के मध्य में आता है। इन वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के शब्द-सुरों के तुलनात्मक अध्ययन से यह प्रतीत हुआ है कि तीसरे वाक्य-फ्रेम म प्रथम वाक्य-फ्रेम की अपेक्षा आरोह तथा अवरोह की मात्रा अधिक होती है। इसी प्रकार चौथे फ्रेम में, जहा कि परीक्ष्य शब्द अन्त मे आता है, तृतीय सुर मे आरोह की मात्रा तथा द्वितीय सुर में अवरोह की मात्रा पांचवें वाक्य फ्रेम में प्रयुक्त शब्दों के शब्द सुर की अपेक्षा अधिक होती है।

वाक्य का प्रकार भी शब्द-सुर का प्रभावित करता है। प्रश्नवाचक वाक्यों

में सभी सुरों का स्तर थोड़ा ऊँचा हो जाता है। द्वितीय सुर पूरी तरह नीचे गिर कर फिर ऊपर उठता है जैसा कि सामान्य वाक्यों मे नहीं भी होता। आज्ञा सूचक वाक्यों में भी तृतीय सुर में आरोह की मात्रा अधिक होती है और द्वितीय सुर गिर कर अन्त में फिर ऊपर उठता है।

सुर वाहक स्वर तथा पड़ौसी ध्वनियों का प्रभाव

संवृत स्वरों का सुर विवृत स्वरों की अपेक्षा ऊँचा रहता है। उदाहरणार्थ छठे फ्रेम में प्रयुक्त पो³ (पीह) और माल³ (चरखे के चक्र का धागा) का सुर इस प्रकार है—

	पो³	माल³
श्रीमती वेदकुमारी	३५०	३२०
श्रीमती ऋषिकुमारी	३२५	२८०
श्री रामनाथ	२६०	१८०
श्री श्यामलाल	२५०	२२५

प्रायः अघोष अल्पप्राण स्पर्शों तथा स के पश्चात् सुर कुछ ऊँचे स्तर से प्रारम्भ होता है तथा सघोष स्पर्शों के पश्चात् कुछ नीचे स्तर से। अघोष महाप्राण के पश्चात् सुर का प्रारम्भ तो नीचे स्तर से होता है, पर सहसा आरोह प्रकट करता है। सुरयुक्त अक्षर से पूर्व के (व्यवधान रहित) सघोष व्यञ्जन तो सुर में भाग नहीं लेते, परन्तु बाद के (व्यवधान रहित) सघोष व्यञ्जन भाग लेते हैं।

स्वर मात्रा पर सुरों का प्रभाव

द्वितीय सुर से युक्त स्वर प्रथम तथा तृतीय सुर से युक्त स्वर की अपेक्षा मात्रा की दृष्टि से दीर्घतर होता है। तृतीय सुर युक्त स्वर द्वितीय तथा प्रथम सुर से युक्त स्वर की अपेक्षा कुछ छोटा होता है।

बह्वाक्षरी शब्दों पर सुर

यद्यपि इस क्षेत्र में पर्याप्त प्रयोग नहीं किये गये, परन्तु मापे गये ३३ उदाहरणों से ज्ञात ऐसा होता है कि बह्वाक्षरी शब्दों में भी सुर की गति एकाक्षरी शब्दों की तरह ही होती है, केवल सुर का कुछ भाग दूसरे अक्षर पर भी होता है।

●

डोगरी भाषा का उच्चारण और लिखित रूप

डोगरी भाषा के उच्चारण के साथ उसके लिखित रूप का सम्बन्ध आज सभी डोगरी लेखकों, डोगरी पुस्तक प्रकाशकों और डोगरी पाठकों के लिए समस्या बना हुआ है। जब कभी किसी भाषा में पहली बार साहित्य लिखित रूप धारण करने लगता है या जब किसी भाषा के लिए नई लिपि का प्रयोग किया जाता है तो इस तरह की समस्यायें अवश्य उठा करती हैं। कहीं शब्दों के हिज्जों की समस्या, कहीं वाक्यों के गठन की समस्या, कहीं शब्दों के ठीक अर्थों में प्रयोग की समस्या यह सब कठिनाइयां सभी साहित्यिक भाषाओं को अपने शैशवकाल में झेलनी पड़ती हैं। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने सरस्वती पत्रिका के माध्यम से खड़ी बोली को साहित्यिक रूप देने के लिए जो जो यत्न किये थे उन से हिन्दी भाषा के स्वरूप के स्थिरीकरण में पर्याप्त सहायता मिली थी। रामचन्द्र वर्मा की "अच्छी हिन्दी" किशोरीदास वाजपेयी का "हिन्दी शब्दानुशासन" जैसे उद्योग हिन्दी के क्षेत्र में होते रहे है। जीवित साहित्यिक भाषाओं के लिए यह समस्या और भी जटिल हो जाती है क्योंकि बोले जाने वाली भाषा तो एक जीवित शरीर होता है और लिपि उस का जड़ पहरावा। कितना भी यत्न क्यों न किया जाए कोई पहरावा किसी शरीर पर सर्वदा पूरा फिट नहीं आता क्योंकि जीवित शरीर तो बढ़ता घटता है पर जड़ वेष अपने आप बढ़ता घटता नहीं उसे शरीर के अनुसार ठीक करना पड़ता है। व्याकरण ग्रन्थ इसीलिए रचे जाते हैं ताकि साहित्यिक भाषा का रूप कम से कम बदले। अंग्रेजी भाषा के साहित्यिक रूप के स्थिरीकरण के लिए सन् १७०० से लेकर १७५० तक के पचास वर्षों में २०० से अधिक व्याकरण तथा भाषा सुधार सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये थे। अंग्रेज़ी में उच्चारण में तो एकरूपता नहीं आ सकी परन्तु लिखित रूप में पर्याप्त रूप में आ गई। अंग्रेज़ी की जन्मभूमि इंगलैण्ड में भी अंग्रेज़ी के अलग-अलग कई उच्चारण मिलते हैं। स्काटलैण्ड, अफ्रीका, फिलिपाइन, आस्ट्रेलिया, अमेरिका भारत तथा अन्य कई देशों में बोली जाती अंग्रेजी का उच्चारण विभिन्न रूपों में होता है परन्तु लिखित रूप अमेरिका के कुछ नये शब्द हिज्जों को छोड़ कर सर्वत्र एक सा है।

यदि साहित्य के क्षेत्र में पर्याप्त उन्नति कर चुकी हुई भाषाओं को ऐसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है तो अपनी साहित्यिक यात्रा के तीस चालीस वर्ष ही पूरे करने वाली डोगरी के लिए भी ये कठिनाइयाँ आश्चर्यजनक नहीं हैं। आवश्यकता केवल इस बात की है कि हम इन कठिनाइयों को समझें और फिर इन का समाधान करने का प्रयास करें। आज जब कि हम ने डोगरी भाषा लिखने के लिए पुरानी टाकरी लिपि के स्थान पर देवनागरी लिपि का प्रयोग करना स्वीकार कर लिया है, हमारे लिए यह निर्णय कर लेना भी आवश्यक हो जाता है कि देवनागरी लिपि के किन चिह्नों का प्रयोग डोगरी की किन ध्वनियों के लिए किया जाना चाहिए।

इस विषय में सर्वप्रथम यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि वस्तुतः कोई भी लिपि बोलचाल की भाषा का बिलकुल ठीक अंकन नहीं कर सकती। उच्चारण के भेद इतने अधिक होते हैं कि लिपि उच्चारण के निकटतम पहुँचने का यत्न ही कर सकती है। भाषावैज्ञानिक तथ्य तो यह है कि संसार के प्रत्येक मानव के बोलने का ढंग अलग अलग होता है अतः संसार में जितने मनुष्य हैं उतनी ही व्यक्ति-बोलियाँ हैं। हर व्यक्ति-बोली के लिए अलग अलग लिपि चिह्न बनाये जायें तो लिपि चिह्नों की संख्या असंख्य हो जाये। एक ही व्यक्ति के उच्चारण को मशीन पर चढ़ा कर मापने से उसके द्वारा उच्चरित एक ही अक्षर के कई रूप दिखाई पड़ते हैं। जग्गू गी गीत गाने आस्ते ग्लाओ इस डोगरी वाक्य में ग् ध्वनि का पाँच बार प्रयोग हुआ है और पाँचों बार का उच्चारण एक ही व्यक्ति की बोली में भी थोड़ा अलग अलग दिखाई पड़ता है। गाने शब्द का ग् मुख के पिछले भाग से उच्चरित होता है परन्तु गीत के ग् का थोड़ा आगे से उच्चारण होता है यद्यपि दोनों ही कण्ठ्य हैं। जग्गू का ग् कुछ भारी स्पर्श है जिसमें जिह्वा का पिछला भाग काफी दबाव डाल कर स्पर्श करता है परन्तु गी का ग् इतना हलका है कि उसे स्पर्श के स्थान पर स्पर्श-संघर्षी भी कहा जा सकता है। यदि इन सब ध्वनि भेदों को प्रकट करने के लिए अलग अलग लिपिचिह्नों का प्रयोग किया जाए तो भाषा के लिखित रूप का प्रयोग करना ही कठिन हो जायेगा।

इसी प्रकार बोलचाल की भाषा का रूप हर दस बीस मील के बाद कुछ न कुछ बदल जाता है। किसी एक स्थान की भाषा भी दस बीस वर्षों में कुछ न कुछ बदल जाती है। बोल चाल की भाषा किसी बन्धन में नहीं बँधता,

स्वच्छन्द रूप मे प्रवाहित होती रहती है परन्तु लिखित भाषा को कुछ नियमों में बँधना पड़ता है। किसी भी बोल चाल की भाषा में उपलब्ध छोटे मोटे भेद सुनने में अधिक नहीं अखरते क्योंकि श्रोता एक दो वाक्य सुनने के बाद वक्ता के बोलने के ढंग को अपने मस्तिष्क में बैठा लेता है। बातचीत का प्रसंग, वक्ता का लहजा, उसके हाथ मुँह इत्यादि द्वारा किये गये संकेत ये सब उसके कथन को समझने में वक्ता की सहायता करते हैं परन्तु कागज़ पर उतरी भाषा तो केवल अक्षरों और विरामचिह्नों के सहारे ही समझी जाती है। यदि ये ही थोड़ा आगे पीछे खिसक जायें तो अर्थ का अनर्थ हो जाता है। इसी कारण लिखित भाषा में एकरूपता का होना अत्यावश्यक होता है।

दूसरी बात यह है कि लिखित भाषा का क्षेत्र बोली के क्षेत्र से विशाल होता है। बोली चाहे दस बीस मील पर कुछ बदल जाती है परन्तु लिखित भाषा इन छोटे छोटे घेरों से ऊपर एक विशाल घेरा बनाती है जिसमें बोलियों के ये छोटे घेरे अपनी विशेषताओं को सुरक्षित रखते हुए भी समा जाते हैं और लिखित भाषा के उस विशाल घेरे को अपना समझते हैं। बोल चाल की भाषा में तो कोई विशेष उच्चारण न शुद्ध होता है न अशुद्ध। जैसा उच्चारण जिस जिस क्षेत्र में अधिक लोगों द्वारा किया जाए उस क्षेत्र में वैसा उच्चारण ही शुद्ध मान लिया जाता है परन्तु लिखित भाषा तो विशाल क्षेत्र में शिक्षित लोगों द्वारा प्रयुक्त की जाती है अत: उसमे उस क्षेत्र की विशालता का तथा शिक्षित लोगों के उच्चारण का ध्यान रखना आवश्यक होता है। यदि प्रत्येक लेखक अपनी इच्छानुसार जैसा वह बोलता हो वैसा ही लिखने लगे तो साहित्य को समझना ही कठिन हो जाये। जम्मू, ऊधमपुर तथा रामबन की डोगरी में कई शब्दों का उच्चारण अलग अलग है। परन्तु लिखित डोगरी में हमें उन शब्दों को एक रूप ही देना होगा। हिन्दी के बैल शब्द का उच्चारण उत्तरप्रदेश के मध्य भाग के लोग ब ए ल करते हैं, अवध के लोग बइल और पश्चिमी भाग के लोग बैल परन्तु परिनिष्ठित हिन्दी लिखने में एक ही रूप बैल का प्रयोग किया जाता है।

तीसरी बात यह ध्यान में रखनी चाहिए कि "जैसे बोलो वैसे लिखो" भाषा और लिपि के आपसी सम्बन्ध के विषय में यह सुनहरी नियम जिस समय ध्वनिमीय लिपि (Phonemic script) की सीमा लांघ कर ध्वनिकीय लिपि (Phonetic script) तक जा पहुँचता है तब वह लिपि भाषा के

लिए भार बनने लगती है। ध्वनिकीय लिपि का प्रयोग किसी विदेशी भाषा को सीखने के लिए तथा किसी बोल चाल की भाषा को लिपिबद्ध करने से पूर्व उस की जांच पड़ताल करने के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण होता है परन्तु किसी भी स्थान के लोगों के लिए अपनी मातृभाषा लिखने के लिए ध्वनिमीयलिपि का प्रयोग ही ठीक रहता है। ध्वनिमीय लिपि उसे कहते हैं जिसमें किसी भाषा की उन दो ध्वनियों के लिए अलग अलग चिह्न हों जिन के परस्पर बदलने पर अर्थ बदल जाता हो (यह व्यतिरेकी वितरण है) पर उन सब ध्वनियों के लिए एक ही लिपि चिह्न हो जिन के परस्पर बदलने पर अर्थ नहीं बदलता हो (यह पूरक वितरण है)। यदि किसी ध्वनि का उच्चारण किसी विशेष स्थिति में थोड़ा बदलता हो तो भी वे सब उच्चारण एक ही लिपि चिह्न से प्रकट किये जा सकते हैं क्योंकि उच्चारण बदलने की स्थिति नियत होने के कारण भ्रान्ति नहीं हो सकती। अंग्रेज़ी में क त प ध्वनियाँ जिन्हें K T P लिपि चिह्नों से प्रकट किया जाता है शब्दों के आदि में ख थ फ के रूप में उच्चरित होती हैं। Pin फिन बोला जाता है क्योंकि P आदि में है पर Spin स्पिन बोला जाता है क्योंकि P आदि में नहीं है। उच्चारणभेद की स्थिति निश्चित होने से अंग्रेज़ी में प फ के लिए अलग अलग लिपि चिह्नों की आवश्यकता नहीं। हम डोगरी भाषी या हिन्दी भाषी बिना बताये P को शब्दादि में भी प ही बोलते हैं क्योंकि हमारी भाषाओं में प के स्थान पर फ आने से अर्थ बदल जाता है जैसे पक्क फक्क पल फल आदि में। परन्तु Pin का उच्चारण जब हम पिन करते हैं तब अंग्रेज़ी मातृभाषी को चाहे वह अजीब लगता है पर उस शब्द का अर्थ नहीं बदलता। Ten का उच्चारण तैन करें या थैन, टैन करें या ठैन अर्थ दस से बीस नहीं होगा परन्तु यदि डोगरी में तार (पार कर) को ठार (ठंडक) या ताल (चुनकर साफ करना) को थाल (थाली) कह दें तो अर्थ बदल जाता है। इसका यह भाव है कि जहाँ अंग्रेजी की ध्वनिमीय लिपि को एक लिपि-चिह्न की आवश्यकता है वहाँ डोगरी या हिन्दी की ध्वनिमीय लिपि को चार लिपि-चिह्नों की आवश्यकता है। स्पष्ट है कि किसी भी भाषा मे जितनी अर्थभेदक ध्वनियाँ हों उतने ही लिपिचिह्नों की आवश्यकता उस की ध्वनिमीय लिपि में होती है। उस से अधिक लिपि चिह्न भाषा के लिए भार बन जाते हैं।

चौथी बात यह भी स्मरण रखनी चाहिए कि यदि कोई लिपि बहुत सी

भाषाओं के लिए प्रयुक्त होती हो तो उसके चिह्नों का मूल्य सभी भाषाओं में बिलकुल एक सा नहीं हो सकता। यूरोप की बहुत सी भाषाओं के लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया जा रहा है परन्तु उस का यह अर्थ नहीं कि उन सब भाषाओं की ध्वनियाँ एक सो हैं। वान्द्रियज़ ने लिखा है कि फ्रांसीसी तथा अंग्रेजी की कोई भी ध्वनि पूरी तरह एक सी नहीं हैं। यही स्थिति शेष भाषाओं की भी है जिनके लिए रोमन लिपि प्रयुक्त हो रही है। यदि सब भाषाओं की सभी ध्वनियों के लिए अलग-अलग लिपि-चिह्न बनाये जायें तो उनकी संख्या हज़ारों तक जा पहुँचे। सत्य तो यह है कि ध्वनिकीय लिपि के मान स्वर भी डेनियल जोन्ज़ के मुँह से ही निकले थे। उनको उसी रूप में सत्ता किसी जीवित भाषा में नहीं। I (ई) कहीं थोड़ो विवृत होगी कहीं थोड़ी संवृत, कहीं जिह्वाग्र से बोली जाती होगी कहीं थाड़ी पीछे से, परन्तु एक ही लिपि चिह्न का प्रयोग किया जाता है। इसी प्रकार यदि हमें देवनागरी का प्रयोग भारत की बहुत सी भाषाओं के लिए करना है ता देवनागरी लिपिचिह्नों का मूल्य (उच्चारण) सभी भाषाओं में बिलकुल हिन्दी जैसा नहीं हो सकता। लिपिचिह्न भाषा के लिए बनाये जाते हैं, भाषा लिपि-चिह्नों के लिए नहीं बनाई जाती। देवनागरी का च लिपिचिह्न कहीं शुद्ध तालव्य स्पर्शी हो सकता है तो कहीं त् और स् का जोड़ स्पर्शसंघर्षी। ज किसी भाषा में तालव्य स्पर्शी बोला जा सकता है और कहीं द् और ज़ के जोड़ के रूप में स्पर्शसंघर्षी और कहीं ज़ के रूप में केवल संघर्षी। परन्तु अलग अलग भाषाओं में इन के लिए अलग-अलग लिपिचिह्नों की आवश्यकता नहीं।

पाँचवीं विचारणोय बात यह है कि किसो भो भाषा के शब्दों के हिज्जों का निश्चय करते हुए उन शब्दों के ऐतिहासिक विकास को भी ध्यान में रखना चाहिए। प्राचीन परम्परा में परिवर्तन धीरे-धीरे आए इस झटके से नहीं कि भाषा का सम्बन्ध पुराने साहित्य और सम्बन्धी भाषाओं से बिलकुल टूट जाए। फ्रांस देश में हैती प्रदेश की एक भाषा क्रिओले को पिछले तीस चालीस वर्ष से लिखित रूप दिया गया है। प्रारम्भ में "जैसे बोलो बिलकुल वैसे लिखो" इस नियम के अनुयायी कुछ उत्साही लेखकों ने क्रिओले के लिए ध्वनिमोय लिपि के स्थान पर ध्वनिकीय लिपि का आश्रय लिया। परिणामस्वरूप बहुत सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गईं और क्रिओले भाषा का सम्बन्ध फ्रांसीसी भाषा से टूटता नज़र आने लगा। ईसवी सन् १९४७ में Charles Fernand और उनके

साथियों ने पुनः दूसरी परिष्कृत लिपि लोगों के समस्त रखी जिसे जनता ने स्वीकार कर लिया।[1]

देवनागरी लिपि का प्रयोग डोगरी भाषा के लिए करते हुए हमें इन सब बातों का ध्यान रखना चाहिए। डोगरी भाषा की प्रत्येक ध्वनि के लिए नहीं, प्रत्येक ध्वनिम (अर्थ भेदक ध्वनि) के लिए हमें एक देवनागरी लिपि चिह्न का प्रयोग करना है और लिपिचिह्नों का चुनाव करते हुए यह भी देखना है कि उन लिपिचिह्नों का उच्चारण जहाँ तक हो सके हिन्दी के उच्चारण के समीप रहे और अर्थ की दृष्टि से हमारी भाषा विशाल भारतीय आर्य भाषा परिवार से अलग न हो।

डोगरी भाषा में १० स्वर ध्वनिम हैं :—अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ। मल माल मिल मोल मुल्ल मेल मैल तोल तौल, इन शब्दों में ये स्वर अर्थ भेदक हैं। इ उ द्वित्व व्यञ्जनों से पूर्व कुछ विवृत हो जाते हैं जैसे मुल्ल=मोल भित्त=द्वार में परन्तु इन के लिए भिन्न लिपिचिह्न की आवश्यकता नहीं क्योंकि जिन स्थितियों में इ उ का विवृत उच्चारण (ह्रस्व एँ ऑ की तरह) मिलता है उन स्थितियों में इ उ का संस्कृत उच्चारण नहीं मिलता।

आ ई ऊ इन दीर्घस्वरों के विषय में शब्दान्त की स्थिति में एक समस्या है। कई शब्दों में इनका उच्चारण दीर्घतर हो जाता है और वह स्वर मात्रा ही वहाँ अर्थ भेदक तत्त्व दिखाई देती है जैसे—

तला=जूते का तला

तला=तालाब। यहाँ शब्दान्त का आ दीर्घतर है।

भरती=भरती होना (फौज आदि में)

भरती=भाई की लड़की। यहाँ शब्दान्त की ई दीर्घतर है।

ये शब्द डोगरी में एक जैसे ढंग से लिखे जा रहे हैं परन्तु इन में अर्थ-भेदकतत्त्व या तो सुर है या बलाघात या स्वरमात्रा। यदि सुरद्योतक कोई चिह्न डोगरी मे न रखना हो तो इस प्रकार के शब्दों में सुराघातहीनता को स्वरहीनता से प्रकट किया जा सकता है जैसे—

तला, त्ला, भरता, भ्रता।

स्वरों में ऋ लृ का प्रयोग नहीं होता।

---

१. एलबर्ट बाल्डमैन, प्राबलम्ज़ आफ डीवैलिंपग नेशन्ज़ १९६८.

व्यंजनों की समस्या कुछ जटिल है। क ख ग च छ ज त थ द ट ठ ड ये अलग ध्वनिम हैं और इनके लिए जो देवनागरी के लिपिचिह्न प्रयुक्त किये जा रहे है उनका उच्चारण भी हिन्दी ध्वनिमों के उच्चारण के निकट है। केवल ग ज द ब के दो दो रूप भिन्न-भिन्न स्थितियों में मिलते हैं। शब्दों के आदि में तथा स्वर के बाद द्वित्वव्यंजनों में इनका उच्चारण स्पर्श ध्वनियों के रूप में होता है परन्तु स्वरान्तर्वर्ती और शब्दान्त स्थिति में यह स्पर्शसंघर्षी हो जाते हैं जैसे—

मिगी	(मिग़ी)	राजेगी	(राज़ेग़ी)
बदल	(बद़ल)	गबरू	(गब़रू))

परन्तु इन ध्वनिभेदों के लिए अलग लिपिचिह्न आवश्यक नहीं क्योंकि उच्चारण का यह अन्तर निश्चित स्थितियों में होता है जिनमें दूसरे प्रकार का उच्चारण नहीं होता और यदि होता भी है तो अर्थ में अन्तर नहीं लाता।

दन्त्य न और मूर्धन्य ण की समस्या भी इसी प्रकार की है। जहाँ न बोला जाता है वहाँ ण नहीं बोला जाता और जहाँ ण बोला जाता है वहाँ न नहीं बोला जाता। शब्द के आदि में तथा स्वर के पश्चात् द्वित्व व्यंजन में दन्त्य न का उच्चारण मिलता है जैसे नक्क कान्नो जान्नो भन्न इत्यादि में। शेष स्थितियों में मूर्धन्य य वर्त्स्य ण बोला जाता है जैसे बुन (बुण) रौनक (रौणक) इत्यादि में। चनार जनकार जैसे कुछ शब्दों में कभी मूर्धन्य ण और कभी दन्त्य न उच्चरित होता है। इन्हे मुक्तवितरण माना जा सकता हैं। यदि कोई ऐसा शब्द युगल न मिले जिसमें अर्थभेदक न या ण हो तो हम आसानी से एक का डोगरी में त्याग कर सकते हैं।

सबसे अधिक कठिन समस्या देवनागरी वर्णमाला के चौथे वर्णों की जिन्हें संस्कृत तथा हिन्दी में सघोष महाप्राण ध्वनियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है। संस्कृत की सघोष महाप्राण ध्वनियों के तीन उच्चारण डोगरीभाषा में मिलते हैं :—पहला अघोष निम्नसुर युक्त जैसे भार=भार में, दूसरा सघोष निम्नसुर युक्त जैसे सुभा=स्वभाव में, और तीसरा सघोष उच्चसुर युक्त जैसे लाभ=लाभ मे। भाषाविज्ञान के नियमानुसार ध्वनिमीय लिपि में कोई एक लिपिचिह्न एक सी परिस्थिति में किसी एक ध्वनि का प्रतीक ही होना चाहिए देवनागरी के चौथे वर्ण (घ झ ध ढ भ हिन्दी में सघोष महाप्राण उच्चरित होते हैं तो यह आवश्यक नहीं कि उनका उच्चारण डोगरी में भी सघोष महा-

प्राण ही हो। रोमनलिपि यूरोप की कई भाषाओं के लिए प्रयुक्त हो रही है परन्तु G B D का उच्चारण किसी भाषा में सघोष मिलता है, किसी में अघोष g डेनिश भाषा में शब्दादि में अघोष 'क' उच्चरित होती है, शब्दान्त में ग। इन्हीं स्थितियों में अंग्रेज़ी में इसका उचारण सघोष ग होता है। K T P अंग्रेज़ी में शब्दों के आदि म अघोष महाप्राण (ख थ फ) बोले जाते हैं परन्तु फ्रांसीसी भाषा में अघोष अल्पप्राण (क त प)। इसी प्रकार यदि देवनागरी लिपि के लिपि-चिह्न घ झ ध ढ भ हिन्दी में सघोष महाप्राण और डोगरी मे अघोष निम्नस्वरयुक्त बोले जाएँ तो कोई कठिनाई नहीं। कठिनाई केवल इस बात की है कि हम डोगरी भाषा में एक सी स्थिति में आने वाली विभिन्न ध्वनियों के लिए केवल चौथे वर्णों का प्रयोग नहीं कर सकते।

यदि डोगरी का संस्कृतपरिवार की भाषाओं के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध न होता तो पांच चौथे वर्णों के स्थान पर दो सुर-चिह्नों का प्रयोग किया जा सकता था। परन्तु ऐसा करना इसलिए उचित नहीं क्योंकि इन सुरों का संस्कृतपरिवार की भाषाओं के साथ ऐतिहासिक सम्बन्ध है तथा इन सुरों का उच्चारण भी पूरे डोगरी पहाड़ी प्रदेश मे एक सा नहीं है। हमें कोई ऐसा रास्ता ढूँढ निकालना होगा जिससे डोगरी भाषा ध्वनिमीय लिपि को भी प्राप्त कर सके और उसका सम्बन्ध शेष भारतीय भाषाओं के साथ भी बना रहे। इस दृष्टि से यह नियम स्वीकार किया जा सकता है कि देवनागरी वर्णमाला के वर्गों के चौथे वर्ण डोगरी में स्वरान्तवर्ती होने पर निम्नसुरयुक्त सघोष अल्पप्राण उच्चरित होते हैं और शब्दादि में निम्नस्वरयुक्त अघोष अल्पप्राण उच्चरित होते हैं। बेभागा धीनगी जैसे कुछ अपवादों का निराकरण उन्हें बेभागा अधीनगी लिखकर किया जा सकता है। अघोष तथा सघोष उच्चारण दो भिन्न स्थितियों में मिलने के कारण ये दोनों एक ही ध्वनिम के दो रूप माने जा सकते हैं। यदि शब्दादि में निम्नसुर सघोष उच्चारण मिले तो उसके लिए अलग लिपिचिह्न की आवश्यकता है और डोगरी में उसके लिए जो सघोष अल्पप्राण तथा ह का संयुक्त रूप प्रयुक्त किया जा रहा है उसे निश्चित रूप मान लेना चाहिये।

यह प्रश्न उठ सकता है कि डोगरी के दो शब्दों ब्हार (बहार) और सुभा (स्वभाव) मे पहले शब्द का पहला अक्षर और द्वितीय शब्द का द्वितीय अक्षर एक सेउच्चरित होते हैं परन्तु लिपिचिह्न अलग-अलग हैं। एक ध्वनिम के लिए दोलिपि चिह्न बरतने ठीक नहीं हैं। इस समस्या का समाधान यह है कि

यहाँ डोगरीमातृभाषी का मनोविज्ञान इन दो ध्वनियों को अलग अलग ध्वनिम स्वीकार करता है। व्हार की ध्वनि व् और ह के जोड़ की उपज है और उसे डोगरीमातृभाषी की बुद्धि एक इकाई के रूप में स्वीकार नहीं करती। हिन्दी में वह और ओहदा शब्दों में प्रथम स्वरध्वनि एक सी होने पर भी हिन्दी मातृ-भाषी वह में अ की सत्ता स्वीकार करता है तथा ओहदा में 'ओ' की। यह तथा सेहरा में एक सी ध्वनि होने पर भी एक में अ और दूसरे शब्द में ए माना जाता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से तथा ध्वनिमीय लिपि की दृष्टि से चौथे व्यञ्जनों का डोगरी में उपलब्ध तीसरा उच्चारण अधिक कठिनाई उपस्थित करता है क्योंकि यह उन स्थितियों में भी उपलब्ध होता है जिन में दूसरा उच्चारण (निम्नसुर युक्त सघोष) मिलता है। शब्दों के अन्त में तो इस उच्चारण का मिलना स्पष्ट है वहाँ प्रथम तथा द्वितीय प्रकार का उच्चारण नहीं मिलता परन्तु स्वरान्तवर्ती स्थिति में भ्रान्ति उत्पन्न होने लगती है जैसे समझा (संज्ञा, उच्चसुर युक्त सघोष) समझा (क्रिया प्रेरणार्थक निम्नसुर युक्त सघोष) में। दोनों ध्वनियाँ ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही व्यञ्जन से विकसित हुई हैं परन्तु बलाघात के भेद ने सुर में भेद उत्पन्न कर दिया है। यह सुर अर्थभेदक होने के कारण लिपिचिह्न द्वारा प्रकट की जानी आवश्यक है। मेरा यह सुझाव है कि ऐसी स्थितियों में द्वित्व या संयुक्तव्यञ्जन का प्रयोग करके उच्च सुर को अभिव्यक्त किया जा सकता है जैसे समज्झा, समझा लब्भा, लभा। शब्दान्त स्थिति में तो चतुर्थ वर्ण हमेशा ही उच्चसुरयुक्त होगा।

एक अन्य समस्या दो या तीन स्वरों के एक साथ आने पर उनके बीच आने वाली य् श्रुति तथा व् श्रुति के विषय में है। शब्दों के आदि में डोगरी भाषा में य् व के स्थान पर ज् ब् मिलते हैं परन्तु कई स्वर एक साथ आने पर कहाँ य् व् लिखा जाए और कहाँ स्वर, यह एक जटिल समस्या है जैसे—

१	जलसा होआ करदा ऐ	या	होया करदा ऐ	(जलसा हो रहा है।)
२	बैठक होए करदी ऐ	या	होये करदी ऐ	(बैठक हो रही है।)
३	साग ताले आ	या	तालेया	(साग साफ दिया)
४	गल्ल होई	या	होयी	(बात हुई)
५	गल्ल उआ ही	या	उया या उवा	(बात वही थी)

६ गल्ल ऊए ही	या	ऊये या उवे	(बात वही थी)
७ उत्थुआं	या	उत्थुयां या उत्थुवां	(वहां से)
८ ललारिए गी	या	ललारिये गी	(रंगरेज को)
९ अ उं जन्नी आं	या	जन्नीयां	(मैं जाती हूँ)
१० गल्ल करीए	या	करियै	(बात कर के)
११ अउं करोआन्नां	या	करवान्नां	(मैं करवाता हूँ)

इस तरह के शब्दों के हिज्जों में अनिश्चित सी स्थिति दृष्टिगोचर होती है। लेखकों को मिलजुल कर व्याकरण तथा सन्धिनियमों को ध्यान में रखते हुए इस विषय में निर्णय कर लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में यह सुझाव है कि उ ओ के बाद य् व् श्रुति सुनने में न आने के कारण वहाँ स्वर का उपयोग ही ठीक है जैसे होआ, होई होए, उत्थुआं, केवल क्रिया के उद्‌बोधनार्थक रूपों और भाववाच्य रूपों में भेद दिखाने के लिए उद्‌बोधनार्थक रूपों में व को बरता जाय जाए। जहाँ इ, ई, ए के बाद य् श्रुति सुनाई देती है वहाँ य् का उपयोग किया जाए केवल उन शब्दों में ए आदि स्वर बरते जाएँ जहाँ व्याकरण की दृष्टि से एक पद न हो जैसे **जन्नी आं** (उदाहरण ९) में। यहाँ **जन्नी** अलग कृदन्त है तथा **ऐ** सहायक क्रिया है। तालेया भूतकालिक कृदन्त एक पद है, करियै पूर्वकालिक कृदन्त पूरा पद है। इनमें य का बरतना उचित है।

वस्तुत: अभी इस क्षेत्र में पर्याप्त विचार विमर्श और अनुसन्धान को अपेक्षा है। डोगरा पहाड़ी क्षेत्र का भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से सर्वेक्षण और उसका समकालिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन भी अपेक्षित है तभी सब समस्याओं का समुचित समाधान किया जाना सम्भव है।

!

!

संस्कृतिक और साहित्यिक निबन्ध

डा० वेद कुमारी

डा० रामप्रताप

इस निबन्ध संग्रह में १८ अनुसन्धानात्मक लेख है। कुछ एक लेख एक दम अछूते और नवीन विषयों को लेकर रोचक शैली में लिखे है और कुछ पहले से प्रचलित विषयों पर गम्भीर ढंग से उपस्थित किये हैं। इनको तीन भागों में विभक्त किया गया है। १-संस्कृत २-आलोचना और ३-भाषा। संस्कृति भाग के अन्तर्गत निबन्धों के शीर्षक इस प्रकार है—प्राचीन संस्कृत साहित्य में डुग्गर, भूमि डोगरी लोकगीतों में रामकथा, डोगरी लोकोक्तियों में नारी, नीलमत पुराण में धर्मों का समन्वय, कालीदास के साहित्य में शृंगार और सज्जा तथा रूपक की सहृदय लीला में नारी सौन्दर्य। आलोचना भाग के निबन्ध में हैं-ऋग्वेद में काव्य के विभिन्न तत्व, पुराणों के विभिन्न संस्करण और उनके रचयिता, उत्कृष्ट नाटक में विभिन्न तत्वों की सामूहिक पूर्णता, भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र में ध्वनि तत्व, काव्य बिम्ब परिप्रेक्ष्य में कालिदास की कविता, ध्वनि सम्प्रदाय का परिचय और आचार्य मम्मट का वैशिष्ट्य। भाषा के विभाग में इन निबन्धों को दिया गया है। ऋग्वेद में भाषा तत्व, संस्कृत साहित्य का महत्व, डोगरी शब्दसुर : प्रयोगशाला में कुछ प्रयोग, डोगरी भाषा का उच्चारण और लिखित रूप।

निश्चय ही यह ग्रन्थ छात्रों और अध्यापकों के साथ ही सामान्य जिज्ञासुजनों के लिए भी नितान्त उपयोगी तथा लाभप्रद है।

मूल्य विद्यार्थी संस्करण ७-५०
पुस्तकालय ,, १०-००

भारतीय विद्या प्रकाशन

पो० बा० १०८, कचौड़ी गली,

वाराणसी-२२१००१